हल्दी के दाग

सुदर्शन चोपड़ा

नवयुग प्रकाशन, दिल्ली-६

हल्दी के दाग
[कहानी संग्रह]
लेखक : सुदर्शन चोपड़ा

*

*

प्रकाशक :
नवयुग प्रकाशन, दिल्ली-६

*

मूल्य : साढ़े-चार रुपये
प्रथम संस्करण, सन् १९६३ ई०

*

मुद्रक :
अग्रवाल प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा
दमयन्ती प्रेस बाजार सीताराम,
दिल्ली।

सुदर्शन चोपड़ा
८८२८, नया मुहल्ला,
पुल बंगश, दिल्ली-६

क्रम

१.	चिम्मो	…… १
२.	कछुए का खोल	…… १४
३.	अनलिखी कहानी की स्लिपें	…… २७
४.	ऑपरेशन की रात	…… ३५
५.	हल्दी के दाग	…… ४३
६.	आदिम गुहा	…… ५२
७.	तीसरी पीढ़ी	…… ६४
८.	मेहमान	…… ७१
९.	खूबसूरत मोड़	…… ७८
१०.	टीसती रगें	…… ९५
११.	गुरुकुल का कांगड़ी : लकड़ी की बैसाखियां	…… १०५
१२.	शीर्षक-हीन	…… ११३
१३.	सुलह का शेक-हैण्ड	…… १२९
१४.	झील की गहराई	…… १३६
१५.	अन्तिम समझौता	…… १४२
१६.	कवच	…… १५८
१७.	गीली पट्टी	…… १७३
१८.	हस्ताक्षर	…… १८४
१९.	जिंदगी का सर्करामा	…… २०६
२०.	ओलिम्पस	…… २१६

चिम्मो

"हैंगे कैसे नईं, हराम की तुखुम ? इबी कल लो पांच का पत्ता था नईं तेरे पास ? कहे है हैंगे नईं ! ला, लिकाड़ फटा फट्ट, नसा टूट्टा जारिया ए !" और फिर बिरजू ने अपनी मुट्ठी में कसी बीड़ी का कश खींचकर चिम्मो के मुँह पर कसैला धुआँ छोड़ दिया। चिम्मो बोली, "पर इबजा मेरे कन्नी एक्को रुपैया नईं। सब खरच हो गये।"

"कहाँ खरच हो गये ?"

"थारे घर में ही। और नहीं तो क्या मैं पीहर दे आयी हूँ ?" चिम्मो ने तुनककर कहा।

यह सुनकर बिरजू की आंखें तमतमा आयीं। उसने चुटकी मार कर बीड़ी का गुल झाड़ते हुए कहा, "कमबखत, अपने ई मरद के संग बेइमान्नी करे है ? छिनाल !" इतना कहते ही बिरजू ने बीड़ी फेंक दी और एक जोरदार घूंसा चिम्मो की कमर में दे मारा। चिम्मो दीवार के साथ जा टकरायी। बिरजू तड़ातड़ लात-घूंसे चलाने लगा। चिम्मो दुहाई देती रही, "हाय रे-ए-ए, मार गेरा पाप्पी ने···बचाइयो रे-ए-ए !"

मगर पास-पड़ोस की कोठरियों और आंगन में सब कुछ पूर्ववत् रहा। न कोई आया, न किसी ने अपने काम में कोई विघ्न महसूस किया। चिम्मो ने अपनी अंगीठी पर जो दाल चढ़ा रखी थी, वह उफन-उफनकर अंगीठी में गिरने लगी। अजीब सड़न भरी बू फैलती जा रही थी।

पास वाली कोठरी में बैठे लाजपत ने उठकर अपने खुले किवाड़ उढ़का दिये। वह सड़ी हुई बू उससे सही नहीं जा रही थी। उसे लगा जैसे उसके भीतर कहीं कुछ ठीक इसी दाल की तरह उबल उठा था और अब वह उफान उसके दिमाग का ढक्कन उछालकर अंगीठी में जा गिरा है। किवाड़ तो उसने उढ़का दिये थे, मगर दरवाजे की दरीचों की राह रिस-रिसकर बू बराबर आती रही।

लाजपत की आंखों के सामने बिरजू का मोटा, बेडौल चेहरा घूम गया। बेरहमी से अपनी पत्नी को पीटते हुए बिरजू का ध्यान आते ही लाजपत को ख्याल आया कि बकरे झटकने वाले कसाई भी ठीक इतने ही हट्टे-कट्टे, बेडौल और बे-एहसास होते होंगे।

लाजपत के ठीक सामने की कोठरी वाली बुंदू की मां अपनी कोठरी के बाहर अंगीठी सिलगाती हुई अपनी बहू को पुकार रही थी। दो-चार बार नाम पुकारने के बाद बड़बड़ाने लगी, 'जाने कुतिया कहां-कहां फिरे जाये है सारे बखत।" और फिर अपने छोटे बेटे को, जो आंगन के नल के पास अहाते के अन्य बच्चों के साथ कंचे खेलने में तल्लीन था, डांट कर कहने लगी, 'ओ रे मुए बिसना! हरामखोर, जिब देखो, खेलले ई खेलले। चल उठ, जरी भगोन्ने में पानी भर ला। दाल चढ़ा दूं।"

फिर बुंदू की मां अपनी पड़ोसिन हरदोई से मुखातिब हो गयी। स्वर में एकाएक ढीलापन आ गया। पूछने लगी, "रोटी पो ली बोब्बो?"

"नई री, इबी कहां! रामी का बाप्पू आज सिकार लाया था, कमबखत गलके ई नई दे रिया। जाने बुड्ढे-ठोड्डे का ठा लाया के..."

"अरी ओ मौसी, जरी सोरबा हम बी चखेंगे।" आंगन में हुक्का पीते हुए फगवा ने अपनी निकोटिन से पीलाई मूंछों पर अंगूठे का पिछला भाग फिराते हुए कहा, और फिर तुरन्त ही पास वाली खाट पर अध-लेटे जम्मन को सम्बोधित कर कहने लगा, "अबे, तू आज दारू-आरू का कोई जुगाड़ भिड़ा साले। इंगे तो कँड़ी कड़की आ रई ए।"

जम्मन बोला, "अरे चाच्चा, दारू को तो मैंई तरस गिया ऊं। नामा ई नईं आत्ता कईं से सवरा।"

इतने में दायें कोनेवाली कोठरी का दरवाजा खुलने की आवाज हुई। फगवा ने जम्मन को ठहोका लगाकर कहा, "देख, साले!"

जम्मन ने देखा और छाती पर हाथ रखकर लटकते स्वर में आवाज कसी, "अये-हये!"

उनका इशारा नेतू और उसकी बहू की ओर था, जो कहीं से घूम कर लौटे थे। उनकी नयी-नयी शादी हुई थी। नेतू की बहू का सांवला चमकदार चेहरा गहरे लाल रंग की सिल्क की साड़ी में और भी चमक फेंक रहा था। होंठों पर बेतहाशा पुती हुई लिपस्टिक और आँखों में भरपूर काजल। गालों पर थोपा हुआ पाउडर हल्के पसीने में बह जाने से गरदन की शिकनों में जमा हो गया था।

नेतू की बहू तो जम्मन की फबती सुनकर पहले से भी अधिक ऐंठती इतराती हुई अपनी कोठरी में चली गयी, मगर नेतू लड़खड़ाता हुआ जम्मन की ओर बढ़ा और पास आकर खाट पर बैठता हुआ बोला, "क्यूं, ऐंही जवाती कुछ जियादा ई जोर मार रई दिक्खे?"

जम्मन ने नेतू की पीठ पर हाथ रखकर कहा, "अरे नेतू, तू तो बड़ा बखतवाला है रे! जालिम टोंटा तो एक लम्बर लाया है।"

"अबे, तो रकम बी तकडी चुकाई है साले। तेरी तरह फोकट में आहें भरने वाले होते तो इब लौ तरसते ई रैंत्ते।" नेतू की आवाज़ के साथ ठर्रे की बू का एक तेज भभका हवा में तैर गया।

लाजपत की कोठरी का किवाड़ इस बीच हवा से अपने आप थोड़ा खुल गया था। उसने उठकर उसे फिरसे उढ़का लिया। अपनी कोठरी में लेटे-लेटे ही लाजपत को बिरजू की कर्कश आवाज फिर सुनायी दी, जियादा फैल किया तो ठौड़ मार दूंगा सूअर की बच्ची !"

और फिर थोड़ी देर के बाद बिरजू लपकता हुआ लाजपत के दरवाजे के सामने से गुजरा और एक मनहूस ख्वाब की तरह ओझल हो गया। आंगन में बैठे-बैठे नेतू ने जाते हुए बिरजू को आवाज दी। बिरजू रुका नहीं। फगवा ने नेतू की ओर हुक्के की नड़ी घुमाते हुए कहा, "अरे, मरन दे सुसरे कू। ले, तू हुक्का पी।"

मगर नेतू ने मना करके जेब में से कैंची का पैकट निकाला और फगवा की ओर बढ़ाते हुए कहा, 'रैन दे चाच्चा, आज सिगरट पी।"

फगवा पैकट में से सिगरेट निकालता हुआ बोला, "वाह बेट्टे, यो ठाठ !" फिर तुरंत ही उसे लाजपत का ध्यान आ गया। उसकी कोठरी की ओर इशारा करके कहने लगा, "अरे यार नेतू, असाम्मी तो यो बी चोक्खी दिक्खे। कैंची के सिगरेट फुंक्के है।"

"कौन ?"

"अरे ओई, रेलवाई का लाजपत बाबू। बिरजू हरके बगड़वाली कोठरी में है नई ?"

"हां, लगे तो आसिक मिजाज सा ही। रेलवाई वालों को तो आमदनी बी घनी होवे है।

"पर यो समझ में नई आत्ता, अब इस सुसरे कू कहीं ढंग की जगा नहीं मिली, हियां अपनी ऐसी-तैसी कराने क्यूं आ मरा ?"

"तम बी बस बोड़म हो।"

'क्यूं बई ?"

"अरे, दिल्ली में ढंग की जगा में नांवां बी तो ढंग का खुले है कि नई ? और फेर इसे करना-धरना बा क्या ! रात को आके पड़ हो

तो रहना ? न लुगाई, न पूत, छड़म-छड़क्क, दस रुपल्ली की कोठरी क्या बुरी ?"

नेतू को इस बीच अपने सिर में नशे की एक तेज़ घुमेरी-सा महसूस हुई। उठता हुआ बोला, "अरे, मार झाड़ सुसरे कू। अपना तो मामला इस बखत फिट हो रिया ए। इब तो सोवेंगे चलके।" और वह लरजते कदमों अपनी कोठरी की ओर चला गया।

इस बीच अहाते के दो-एक और भी मर्द आकर थोड़ी-थोड़ी देर को बैठ गये थे। हुक्के में अब दम नहीं रहा था। नल के पास खेलते बच्चे भी अपना खेल बन्द कर चुके थे। चिम्मो अभी तक अपनी कोठरी में पड़ी सुबक रही थी।

गरमी की रातें तो उस अहाते की कोठरियों में जहन्नुम से कम न होतीं। दिन को तपतीं और रात को भभकारें छोड़तीं। दिन ढलते ही लोग कीड़ों की तरह बाहर रेंगना शुरू कर देते और आंगन में जहां-तहां पसर जाते। मगर अब अक्तूबर का मध्य था। दिन में तो कुछ गरमी रहती थी, पर रात को ठण्ड हो जाती, इसलिये खाटें कोठरियों में सरक गयी थीं।

मुहल्ला बानकपुरा का यह घेर 'चमारों का अहाता' के नाम से जाना जाता है। आयताकार घेर में बीस-पचीस छोटी-बड़ी कोठरियाँ; पश्चिम की ओर मेन रोड को जाने का एक सुरंगनुमा मेहराबदार रास्ता; बीच में एक सांझा आंगन और आंगन में कमेटी का एक बड़ा नल—यही इस अहाते का संक्षिप्त हुलिया था। यहां के अधिकतर निवासी चमार ही थे। दो-तीन घर धींवरों के भी थे, एक कोठरी में बैंक का एक राजपूत चपरासी रहता था और बिरजू के साथ वाली में कुछ दिनों से रेलवे का एक बाबू लाजपतराय आ टिका था।

आने के तीसरे दिन लाजपत को मलेरिया ने धर-दबोचा। तीन-चार दिन तक वह खाट से उठ नहीं सका था। आज उसे महसूस हो रहा था कि चिम्मो अगर उसकी तीमारदारी न करती तो वह दम तोड़ गया होता। वह उसे कमेटी के अस्पताल से दवा ला-लाकर देती, तीन-चार घंटे बाद आकर एक-एक खुराक पिला जाती, दिन में चार-पाँच बार चाय बनाकर देती, लाजपत को जिस दिन होश आया, उसने चिम्मो के कंधे पर अपना अशक्त हाथ रखकर बड़ी पिघलती निगाहों से उसकी ओर देखा और फिर भावना-पगे स्वर में पूछा था, "चिम्मो, तुम मेरे लिए इतनी तकलीफ क्यों उठाती हो ?" चिम्मो ने तब सहज भाव से कहा था, "अरे बाबू इसमें तकलीफ काहे की ?" और उस समय लाजपत को लगा था कि इन शब्दों ने उसका सारा रोग चूस लिया है।

फिर जिस दिन बुखार उतरा उस दिन चिम्मो लाजपत के लिए मूंग की दाल की खिचड़ी पकाकर ले आयी थी, जिस समय वह लाजपत की कोठरी में दाखिल हुई, उस वक्त वह अधलेटी हालत में बैठा हुआ कुछ लिख रहा था। चिम्मो ने खिचड़ी का कटोरा खाट की पाटी पर टिकाते हुए पूछा, "बहू को खत लिख रहे दिक्खो !"

लाजपत ने गरदन उठाकर उस समय चिम्मो को कुछ ऐसी घुलती निगाहों से देखा, गोया अपने को उसकी आँखों में उड़ेल देना चाह रहा हो। कुछ देर रुककर शब्द चबाता-सा कहने लगा, "नहीं चिम्मो, बहू-वहू अभी कहाँ ! माँ को इत्तला दे रहा हूँ कि अब ठीक हूँ," और फिर चिम्मो की ओर गड़ी दृष्टि में कृतज्ञता भरकर बोला, "और चिम्मो ने मुझे बचा लिया।"

चिम्मो तब मुस्करा दी थी। खुले-खिले स्वर में पूछा था, "घर कहाँ थारे ?"

"मुजफ्फरनगर।"

"अच्छा, तब तो फेर अपनी ओर केई हो ! मैं तो समझी पिंजाबी हो।"

लाजपत तब लमहे भर के लिए सोच गया : 'क्यों न अपनी ओर का ही बना रहूं ?'' मगर फिर अनचाहे ही उसके होंठों से सरक गया, "हां, था तो पंजाबी ही, पर अब यू. पी. में ही आ बसे हैं।" इतना कहते ही लाजपत चिम्मो के चेहरे पर से 'अपनी ओर' वाले एहसास को धुंधलाता हुआ देखने की आशंका से सिहर उठा था। मगर चिम्मो के मुंह पर बेगानगी की कोई झलक नहीं दिखी। वह उसी अपनापे-पगी आवाज में बोली, "अरे बाबू, पिंजाबनें तो बड़ी खूबसूरत होवे हैं। कर क्यूं नहीं लेत्ते कोई उठती सी ? बगड़ वाले महल्ले में ढेर सारी हैं। ससुरी इगे-तिगे झख मारो फिरे हैं। किसी कू हियां ठौर से बिठा लो, थारा घर बी बसेगा।"

लाजपत ने चिम्मो की बात के कुछ गहरे अर्थ निकालने की कोशिश की थी। अपने प्रति इस विषयक सहानुभूति-प्रदर्शन में लाजपत को एक खास किस्म की गंध आती हुई लगी। मन हुआ कि कह दे : 'बहू ही लाकर क्या करूंगा चिम्मो, तुम ही...।" मगर वह पूरी तरह सोचने से भी पहले अपने को सम्भाल गया। सिर्फ इतना ही कह पाया, "नहीं, चिम्मो, अभी मुझे ज़रूरत नहीं है।"

और फिर उस दिन कुछ देर बैठकर चिम्मो चली गया थी। लाजपत उस जाती हुई को पकड़ती-निगाहों देखता रहा। जब वह आंखों से ओझल हो गयी तब लाजपत को एकैक बड़े ज़ोरों से 'जरूरत' महसूस हो आया थी।

एक दिन चिम्मो आंगन के नल से नहाकर अपनी कोठरी की ओर जा रही थी। लाजपत अपनी कोठरी में बैठा-बैठा ही उसे चिपकती-निगाहों देखता रहा। चिम्मो की रेखाएं उभारते गीले शरीर पर चिपकी, पर कहीं-कहीं से लहरों की शक्ल में उभरी महीन-सी वायल की साड़ी लाजपत के रुएं-रुएं में मांस की मादकता पिरो गयी।

मांस की महक के उस तेज़ झोंके ने लाजपत के उढ़के किवाड़ फड़ाक् से खोल दिये थे। अब वह हवा की हर हिलोर के साथ चिम्मा के आने की अन ऊबी इन्तजार में डूबा रहने लगा।

उस रात बिरजू देर से घर लौटा। नशे में धुत् वह अपनी कोठरी में दाखिल हुआ। चिम्मो को जगाया। खाना खाया। दालान में खाट डाली और पसर गया। आधी रात के बाद ठंड से नींद उचटी तो फिर कोठरी में चला गया। चिम्मो बेसुध पड़ी सो रही थी। बिरजू ने उसे झिझोड़कर जगाया तो उसने मना करते हुए कह दिया, "मेरा जी ठीक नईं।"

बिरजू पर अभी तक नशा सवार था। मना किये जाने पर गरमा गया। चिम्मो भी कुछ तुर्श हो आयी। बात बढ़ गयी। बिरजू ने चिम्मो की कनपटी पर एक मुक्का जमा दिया। चिम्मो चिल्लाती हुई उठकर बाहर की ओर लपकी तो बिरजू ने पीछे से उसकी कमर पर एक लात मार दी। चिम्मो दालान में औंधी जा गिरी।

थोड़ी देर के बाद वह रोती-रोती उठ पड़ी और अपनी चौखट के साथ दीवार के सहारे बैठ गयी। लाजपत के खुले किवाड़ों की राह चिम्मो की सिसकियाँ भीतर तक पहुंच रही थीं।

लाजपत शाम की ड्यूटी करके ग्यारह बजे ही लौट आया था। अपनी कोठरी के किवाड़ खोले पड़ा लेटा-लेटा ही वह सारा कांड देख चुका था। अब उसे लग रहा था, गोया उसी की पीठ पर लात पड़ी हो और वह मुंह के बल आ गिरा हो। अपनी खाट पर ही औंधा-सीधा होता रहा। नींद नहीं आ रही थी।

चिम्मो के प्रति उसके भीतर कहीं कुछ पिघल-पिघल उठ-उफन पड़ रहा था। पड़े-पड़े ही यादों की नई कतरनें उसकी अन्धेरी कोठरी में उसके इर्द-गिर्द आ बिखरीं: जब वह बीमार पड़ा था और चिम्मो तन-मन से उसकी तीमारदारी में तल्लीन थी; जब उसने

चिम्मो की आँखों में कुछ उझकता-झाँकता महसूस किया था ; जब मांस की क्षुधा से लाजपत की भावना की आंतों में तनाव आया था—वह सारे-के-सारे पल एक स्थान पर बटुर आये।

वह आवेश के अंधड़ से धकियाया-सा उठ खड़ा हुआ और अपनी चौखट पर खड़ा होकर दीवार के सहारे सिमटी बैठी चिम्मो को देखने लगा। वहीं खड़े-खड़े उसे ख्याल आया कि वह इस अंधेरे में हाथ बढ़ा कर चिम्मो को चुपके से उठा ले और फिर दुलरा-पुचकार कर पूछे : 'चिम्मो कहीं चोट तो नहीं आयी ?' मगर लाजपत फौरन ही दरवाजे के दोनों पल्ले मूंदकर भीतर हो गया।

चिम्मो का सिसकारता-स्वर मुंदे द्वार की दरीचों की राह रिस-रिसकर लाजपत के कानों में पड़ता रहा। उसे लगा गोया चिम्मो कह रही हो : 'मैंने तो तुम्हें अपना समझा था बाबू, तुम ऐसी हालत में मेरी बात नहीं पूछते !'

अगले दिन दोपहर के करीब लाजपत कोठरी में बैठा कोई किताब पढ़ रहा था। पीछे से उढ़के किवाड़ खुलने की आहट हुई। उसने घूम कर देखा : चिम्मो मुस्कराती हुई भीतर आ रही थी, उसके हाथ में फेनियों की खीर से भरा कटोरा था। कटोरा उसने लाजपत की ओर बढ़ाते हुए कहा, "तुम्हारे लिए खीर लायी हूँ बाबू, खाओगे ?"

लाजपत ने हाथ बढ़ाकर कटोरा थाम लिया। मगर कृतज्ञ, झेंपते हुए सशंक स्वर में पूछ बैठा, "चिम्मो, तुम इतनी तकलीफ क्यों करती हो ?"

चिम्मो हैरानी की मुद्रा में कहने लगी, "अरे, बाबू, इसमें काहेकी

तकलीफ ! आखिर तुम अपने पड़ोसी ठहरे।"

लाजपत ने चिम्मो को ऊपर से नीचे तक बड़े गौर से देखा। चिम्मो सहज भाव से मुस्करा पड़ी। लाजपत को उस मुस्कराहट में पड़ोसी-धर्म का निबाह नहीं, कुछ और ही लगा। उसने बार-बार अपने सामने खड़ी चिम्मो के जिस्म पर निगाह फिसलानी शुरू की। लाजपत ने देखा—वह साफ-सुथरे कपड़ों में लिपटी हुई है। होंठों पर लिपस्टिक की मोटी परत और मांसल गालों पर लगा पावडर। बालों में से किसी सस्ते तेल की तेज़ खुश्बू आ रही है। मांग में सिन्दूर की मोटी-लम्बी लकीर खिंची हुई है।

'रात क्या बात हुई थी, चिम्मो ?" लाजपत ने सहानुभूतिपूर्ण स्वर में पूछा। चिम्मो पहले तो समझ नहीं सकी कि वह कौन-सी बात के बारे में पूछ रहा है। मगर फिर उसे तुरंत ही याद आ गया और वह बड़ी लापरवाही से खुलकर हंस दी, "अरे, कुछ नईं बाबू, जरि जियादा पी आया था रात, और क्या !"

लाजपत झेंप गया। और फिर अपने हाथ में पकड़ा हुआ खीर का कटोरा उसे एकदम गरम लग उठा। व्यंग्य के अंदाज में पूछने लगा, "यह खीर आज किस खुशी में बनी है चिम्मो ?" उसने कहना तो यह भी चाहा कि 'रात की मार की खुशी में ?', मगर यह शब्द उसके दांतों में ही कहीं कटकर रह गये।

"आज करवा चौथ नईं ए बाबू ?"

"करवा चौथ !" लाजपत चौंक पड़ा।

"हाँ बाबू, करवा चौथ, बरत में हूँ।"

"तो फिर यह···"

'यो उस' के लिए बनायी थी। सोच्चा तुम्हें बी जरि चखा दूं।" फिर कटोरे की तरफ देखकर कहने लगी, "अरे, खाओ न ! तुम तो इब लौ लिये बैठ्ठे हो।"

'नहीं चिम्मो, तुम खा लो, मुझे स्वाद नहीं लगती।" लाजपत ने कटोरा चिम्मो की ओर बढ़ा दिया।

"मैं तो दिन भर पानी वी नईं पी सकूं। बस संझा कू करवा पूज-पाज के चांद देखूंगी, तब कहीं जाकर मुंह जुठा सकूं हूँ।"

"करवा चौथ तो पति की कल्याण कामना का व्रत होता है न, चिम्मो ?"

"और नईं तो क्या !"

"तो तुमने बिरजू के लिए रखा है, है न ?"

"अरे, तो और किसके लिए रक्खूं हूँ, बाबू तुम बी कैसी बातें, करो हो ?"

चिम्मो की मुद्रा से कुछ ऐसा लगा, गोया वह लाजपत के सामान्य ज्ञान की कमी पर तरस खा रही हो।

मगर लाजपत को करवा चौथ की उस खीर के कटोरे में से सड़े पनीर की सड़ांध आने लगी।

और फिर स्मृतियों के घर में से उड़-उडकर एक गन्दी भभक लाजपत के मस्तिष्क की नासिकाओं में घुस आयी : उसके पिता का व्यवहार भी उसकी माँ के प्रति लगभग वैसा ही था, जैसा कि बिरजू का चिम्मो के साथ। पर माँ भी करवा चौथ का व्रत रखती थी, चिम्मो भी रखती है, मगर......

इस 'मगर' के बाद सोचना भी लाजपत को तकलीफ देने लगा। मगर सोचके सूत्र हाथ से खिसक ही गये। मां की कुंठा ने जो गुल खिलाया था, उसकी पत्ती-पत्ती लाजपत को यादों के घूर पर बिखरी दीख पड़ी। वह यह सब सोचने में भी कुछ इस किस्म की सतर्कता बरत रहा था, जैसे डर हो कि सोचते-सोचते ही उसकी माँ का वह रहस्य बाहर फिसल पड़ेगा, जिसे वह लड़कपन से ही अपने भीतर दफनाये ए है।

लाजपत को अपनी माँ की कुंठा का अक्स आज चिम्मो की आंखों उतरा हुआ जान पड़ा। और उसे चिम्मो के जिस्म से एक अजीब तरह की बू आनी शुरू हो गयी।

एक बार तो उसे लगा कि उसने कह दिया है : 'यह कैसी बू है चिम्मो ?' और फिर लगा यह भी कि चिम्मो से उत्तर भी मिल गया है : 'कहीं बी तो नईं।'

लाजपत ने एक बडी ही दयार्द्र दृष्टि चिम्मो के चेहरे पर डाली और बड़े जोर से चाह उठा कि कह ही डाले। 'तुम्हारी नारी की बू, चिम्मो !'

मगर वह कह नहीं सका। थोड़ी देर के बाद गीली आवाज में बोला : "चिम्मो !"

"क्या बात ए बाबू ?"

"बिरजू तुम्हें इतना मारता है चिम्मो, तुम्हें बुरा नहीं लगता ?"

इतना कहते ही लाजपत चिम्मो की आँखों में झांकने लगा। वह उम्मीद करने लगा कि अभी इन आँखों की राह वह कुंठा रेंग आयेगी।

मगर चिम्मो ने लाजपत की बात को कुछ उस तरह सुना, गोया बहुत ही अजीब और समझ में न आने वाली गूढ़ ज्ञान की कोई ऐसी बात हो जो उसके काम की न हो।

फिर फौरन बाद ही उसने लाजपत को एक ऐसी निगाह से देखा, गोया उसकी ज्ञानहीनता पर दरस खा रही हो।

कुछ पल तक इस तरह लाजपत को देखने-परखने के बाद चिम्मो ने सहसा एक ज़ोरदार ठहाका लगा दिया और दोहरी-सा होती हुई कहने लगी, "हो-हो-हो···अरे बाबू, तम बी बिल्कुल अनाड़ी ओ !"

"क्यों ?" लाजपत एक साकार प्रश्न चिह्न बन आया।

चिम्मो फिर बोली, "वै बी कोई मरद होवे जौन अपनी बीरबानी को बस में नईं रख सकै ? औ' फेर नस्सो की चोट तौ सक्कर की पोट होवे हे बाबू ।"

इतना सुनते ही लाजपत की ठगी हुई दृष्टि चिम्मो के चेहरे पर टंगकर रह गयी और फिर कोई बोल उसके मुंह से नहीं सरका ।

कछुए का खोल

गलियारे में चलते-चलते शीला सोचने लगी : 'आज क्या-क्या लेना होगा ? निम्मो ने चप्पल कही थी। बिल्लू के स्वेटर की ऊन। अपनी साड़ी। सभी साड़ियाँ फट गयी हैं। नहीं लूंगी तो कैसे चलेगा ? न सही महंगी, कोई काम चलाऊ ही ले लूंगी।'

और फिर पिछले महीने की वह आइटमें याद आने लगीं, जिन्हें अगली पहली यानी आज पर स्थगित किया था। एक लम्बी लिस्ट थी उनकी। और अधिकतर ऐसी थीं वे मदें जो जाने कई महीनों से इसी तरह अगली पहली पर टलती आ रही थीं। पहली तारीख—हर महीने आती है पर कभी पुरानी नहीं पड़ती। हर बार उसी बेताबी से इन्तज़ार करवाती है गोया शादी की पहली रात हो।

शीला को भी अपनी सुहागरात की थ्रिल अभी तक याद है। कितनी प्रेरक है उस थ्रिल की स्मृति !

और फिर शीला खज़ान्ची से वेतन लेकर अपने कमरे में अपनी सीट पर आ बैठी। कट-कटाकर कुल एकसौ तीस रुपये साठ नये पैसे मिले थे।

"शीला जी, यह बजट ब्रांच की एक चिट्ठी है। टाइप कर देना। आज ही जानी है।" असिस्टैंट खन्ना ने फाइल बढ़ाते हुए कहा।

शीला ने फाइल लेकर रख ली और दराज़ में से कागज-कारबन निकालने लगी। मगर मन में एक झूंझल भी हुई कि सब जने मुझी पर लादते हैं सारा काम। दम भर साँस भी नहीं लेने देते। रोज़ी भी तो मेरी तरह एल० डी० सी० है। उस से कोई नहीं कहता। साहब की चहेती जो है! दिन भर सीट पर बैठी या तो स्वेटर बुनती रहती है या फिल्म फेयर के पन्ने पलटती है। लिपस्टिक पोतकर तितली बनी घूमती है। गोडों से ऊँचा स्कर्ट पहन कर ऊँची एड़ी की सेंडल टक-टकाती हुई चलती है। अपने कूल्हों की मूवमेंट्स पर कितना नाज़ है उसे! साहब से आश्वासन मिला है, अब के यू० डी० सी० का चांस मिल जाएगा।

लंच टाइम में रोज़ी ही शीला को उठाकर कैन्टीन में ले गयी। चाय की ट्रे ली। नमकीन भी। पैसे रोजी ने ही दिये। बोली, "आज तो पे-डे है शीला! चलो, पिक्चर देखोगी?"

शीला मुस्कराकर टाल गयी, "शाम को कहीं जाना है, रोज़ी।"

रोज़ी ने शरारती मुस्कराहट बिखेर दी, "कहीं एप्वाइंटमेंट है?"

शीला को बुरा लगा। मगर मुस्कराकर कहने लगी, "नहीं, रोज़ी, घर का ही कुछ काम है।"

मगर शीला के मन में साथ ही यह भी आया: कितनी मस्त है रोज़ी! काश! मैं भी मस्ती जी सकती! क्या जिंदगी है मेरी भी! एकदम हमड्रम। उफ! दम घुटता है। इनसान हूँ। आखिर कुछ तो चाहिए ही। वरना यह बोरियत खा जायेगी। ठीक ही तो कहता था श्रीपाल: एकरसता तो अभावहीनता की भी झिल नहीं पाती, यहां तो अभावों और घुटन की बोझिल एकरसता है। बरसों बीत गए हैं—वही घर, वही अभाव, वही बाड़े की-सी घुटन, वही बसें, वही चिढ़ी सूरतें, वही दफ्तर, वही सीट, वही टाइप राइटर, की-बोर्ड, फाइलें, वही दड़बा

श्रौर मुरगियों का-सा जीवन। गोया जिन्दगी न हुई पोल्ट्री फार्म हुग्रा।

शाम को पाँच बजे जब दफ्तर से छुट्टी हुई तो नार्थ ब्लाक की सीढ़ियों से उतरती भीड़ को देखकर शीला को एक बार फिर वही एहसास हुग्रा—दड़बों से निकाली गयी मुरग़ियों वाला। झुण्ड-के झुण्ड इधर-उधर बिखर फैल गए। बसों के स्टाप···लम्बी-लम्बी क्यू···घर पहुँचने की उतावली···दिन भर की थकन की शिकनें···पर ग्राज वेतन मिला है, इसलिए कुछ उत्साह-सा भी है।

हर रूट की स्पेशल बसें ग्रा-ग्राकर लग रहीं हैं। लाद-लाद कर ले जा रही हैं। कहां?—शीला ने पन्द्रह नम्बर की क्यू में खड़े-खड़े ही ग्रपने ग्राप से प्रश्न कर डाला। ग्रौर उत्तर जो मिला उससे उसके ग्रोंठ कुछ विद्रूप भाव में फैल गए—घर, यानी बाड़े, यानी दड़बों के ही प्रतिरूप या कि पोल्ट्री फार्म की ही ब्रांचें। कैसी मानोटनी है।

शीला पन्द्रह नम्बर की क्यू में से हट गयी। ग्राज 'ग्राठ-ए' में जाऊँगी। हुँ! इससे क्या हो जायेगा? बस बदलने से एकरसता टूट जायेगी? हाँ, शायद। कुछ तो फर्क पड़ेगा ही।'

ग्रौर फिर वह मण्डी जाने की बजाय रीगल पर ही उतर गयी। फिर वहाँ से टहलती-टहलती कनाट प्लेस के बरामदों में ग्रा गयी। हर तरफ चहल-पहल···बने संवरे स्त्री-पुरुष···प्रसन्न-चित्त जोड़े, सजी दुकानें···महकते गजरे ग्रौर फूलों के हार बेचते फेरी वाले···तरह-तरह की चीज़ों के शो-केस···बढ़िया से बढ़िया कपड़ों ग्रौर मनियारी के सामान की नुमायश···ग्राधुनिकतम रेस्त्राग्रों में से उड़-उड़ कर ग्राती हुई त्रसांधें।

पास ही खिलखिलाकर हँसती-बतियाती लड़कियों का एक गुच्छा-सा गुज़र गया। शीला उनकी चुस्त लिबासों ग्रौर मस्त चाल को देख कर ग्रपने में ही कट कर रह गयी। हीनत्व का संपोलिया उसके भीतर

रेंगने लगा।

वहीं खड़े-खड़े कुछ ही पलों में उसके दिमाग में कई विचार आ टकराए : 'जवान हूँ, कमाती हूँ, अकेली हूँ। अँ ?—हां-हां, अकेला ही तो हूँ। यूं तो बसुधैव कुटुम्बकम के अनुसार सारी दुनिया ही अपना परिवार है, पर असल मानों में तो परिवार मेरा नहीं है। सास-ससुर, देवर-ननद, यह सब तो पति के कारण ही होते हैं। जब पति ही नहीं रहे तो फिर ये सब नाते अब क्या हैं ? हुँ ! बेकार का मोह-जाल। ठीक है, मेरे बिना ये लोग कठिनाई में पड़ जायेंगे। पर चारों तरफ यही हाल है। घर-घर यही अभाव। कहाँ तक कितनों के काम आ सकती हूँ ? मेरी कमाई ही कितनी है ? फिर आखिर कहां तक जान खपाऊँ ? केदार की पढ़ाई खत्म होने में अभी कई साल पड़े हैं। फिर भी क्या भरोसा कि नौकरी लग ही जायेगी ? निम्मो तो उससे भी एक क्लास पीछे है। उसकी पढ़ाई निबटेगी तो ब्याह का चक्कर। यह सब तो एक कभी न खत्म होने वाला सिलसिला है। तो ? तो क्या ! बस, ठीक है, मैं कल ही अपना अलग ठिकाना कर लूंगी। कोई अच्छा-सा कमरा मिल गया तो वहां, वरना वर्किंग गर्ल्स हास्टल में शिफ्ट कर जाऊँगी। रोज़ी से कहूँगी, प्रबन्ध करवा देगी। वह भी तो वहीं रहती है। फिर आराम से आज़ादी की जिन्दगी जिऊँगी। ये सब क्या बेकार के रोग लगा रखे हैं मैंने !'

और यह निर्णय लेते ही शीला ने अपने को एकदम हल्की हो गयी महसूस किया। मन हुआ : 'एक राउंड और लगालूं। खूब घूमूं। अब कौन है मुझे रोकने-टोकने वाला ! किसी अच्छे-से रेस्तरां में बैठकर खाना खाऊँगी। फिर···फिर पिक्चर देखूंगी। सैकण्ड शो ? हाँ, तो क्या हुआ ? बारह बजे शो खत्म होगा। टैक्सी या स्कूटर में घर चली जाऊँगी। कोई कुछ पूछेगा तो टका-सा जवाब दे दूंगी। मुझे अब रहना तो है ही नहीं वहां। इसी बहाने अलग हो जाऊँगी। यूं भी तो साफ-साफ कहने से किसी बहाने की आड़ अच्छी है।'

फिर अपनी सादी-सी साड़ी की ओर ध्यान जाते ही वह तुरंत चल दी। एक दुकान में जाकर अच्छी-सी साड़ी खरीद डाली। साथ ही एक मैच करता हुआ ब्लाउज़ का पीस भी। फिर ध्यान आया, 'चप्पल भी तो घटिया है। नए डिजाइन की सैंडिल भी होनी चाहिए। अलग रह कर भी फटीचर ही बनी रही तो क्या बात बनी ?'

और फिर शीला ने पंद्रह रुपये के सैंडल भी खरीद लिये। बेंगर्स वाले ब्लाक में शो केसों में सजी चीजों को देखती-परखती चलने लगी। एक पुलओवर पसन्द आया तो सोचा, अगले महीने यह भी ले लूंगी।

फिर मन-ही-मन उन सब चीज़ों की लिस्ट बना डाली जो नया घर बसाने पर जरूरी हो जायेंगी। ख्याल आया, 'मेरा लिहाफ भी तो यूं ही सा है। बढ़िया सांटन का भरवाऊँगी। और पलंग ? हां, हां, वह भी। यहाँ तो जमीन पर बिस्तर लगाकर सोते-सोते हड्डियाँ दुखने लगी हैं। एक छोटा सा कमरा है, जिसमें छः जने रहते हैं।'

बाहों में साड़ी वाला लिफाफा और सैंडल का डिब्बा लिये-लिये ही शीला एक रेस्तरां में चली गयी। दायें कोने में जा बैठी और खाने का आर्डर देकर इधर-उधर बैठे लोगों को देखने लगी। अब उसे उन प्रसन्नचित्त लोगों को देखकर जलन नहीं हो रही थी।

रेस्तरा के आरकेस्ट्रा पर कोई अंग्रेजी नाच की धुन बज रही थी। मरकरी लाइट की ट्यूबें···इधर-उधर घूमते साफ सफेद वर्दियाँ पहने वेटर···टेबलों पर गूंजते कहकहे···निकोटीन की हलकी-हलकी गंध··· पश्चिमी डिशों की भूखोत्तेजक बसांधें।

शीला के साथ वाली टेबल अभा-अभी खाली हुई थी और उस पर एक एंग्लो इण्डियन जोड़ा आकर बैठ गया था। जोड़ा, यानी एक लड़की और एक आदमी। शीला ने सोचा, 'पति-पत्नी' तो ये हो नहीं सकते—क्यों नहीं हो सकते ? पति-पत्नी की कोई खास पहचान होती है ? फिर स्वयं ही आत्म समर्थन कर डाला—हां, खास ही होती है।

साफ पता चल जाता है, हाव-भाव से, बातचीत के अंदाज से। मगर तुरंत ही एक तेज नकार भाव उठ आया, हुँ ! होगा गली-मुहल्लों के पति-पत्नियों के जोड़ों का कोई ऐसा ट्रेड मार्क। पर यहाँ के समाज में इस तरह की कोई निशानी नहीं है। थोड़ी देर बाद फिर किसी संस्कार ने जोर मारा और शीला सोचने लगी, न सही, पर फिर भी यह छोकरी तो इस व्यक्ति की पत्नी नहीं हो सकती। इसमें पत्नियों वाला कुछ भी तो नहीं है। पत्नियों वाला ही क्यों, औरतों वाला ही क्या है इसमें ? इन दोनों में जरूर दुकान और ग्राहक वाला रिश्ता है। और कोई नहीं हो सकता। अच्छा खैर, मारो झाड़ू, होगा, मुझे क्या ! कुछ भी हो, यह लड़का है मजेदार। कितनी स्वस्थ, प्रसन्न, मनमौजी और आज़ाद !'

और तब शीला मन ही मन उस ऐंग्लो इण्डियन छोकरी से रश्क करने लगी। तभी अनायास अपने दफ्तर की साथिन रोज़ी की याद भी आ गयी, 'वह भी तो अपने इसी तरह के दोस्तों के किस्से सुनाया करती है। यूं, लड़की स्मार्ट है, यह बात तो माननी पड़ेगी ही। है भी बड़ी जिंदादिल। हर समय खुश रहती है। कितनी खुशकिस्मत है रोज़ी !'

खाना खाकर बाहर निकली तो सामने बैठे पनवाड़ी शीला ने एक बनारसी पान बनवाकर खाया। ध्यान आया, 'पान भी तो बहुत दिन बाद खा रही हूँ। प्रीतो के स्कूल में फंक्शन था जिस दिन, तब खाया था एक। सो भी श्रीपाल ने ही उठाकर पेश कर दिया था। वरना मैं तो जहाँ तक हो सके ऐसी कोई इल्लत पालना ही नहीं चाहती। जितनी भी बन पड़े, किफायत करती हूँ। किफायत ?—हुँ! अब क्या मुसीबत है मुझे ? क्यों घोटूं इच्छाओं को ? अब तो रोज खाने के बाद दोनों समय एक-एक पान खाया करूँगी।'

शीला टहलती-टहलती रीगल तक आ पहुँची। सेकण्ड शो के लिए

एक टिकट लेकर फिर से बाहर आ गयी। शो में अभी एक घण्टा बाकी था। कनाट प्लेस की रौनक का यही खास वक्त है। रीगल के आस-पास के टुकड़े पर इस समय एक खास किस्म का रंग रहता है। जनपथ वाला ब्यूटी स्पाट तो सात बजे के बाद अपनी आभा खो बैठता है।

"असली मोतिया का गजरा है, मेम सॉब !" एक डलिया में फूलों के ताजे गजरे लिये एक फेरी वाला शीला के पास खड़ा कह रहा था।

शीला ने पूछा, "कितने का ?"

"दस पैसे, मेम सॉब।"

शीला ने एक गजरा खरीदकर अपने जूड़े के गिर्द लपेट लिया। मोतिया की नशीली महक पूरे तन से लिपट गयी और कुछ पल को वह एक और ही दुनिया में जा पहुँची।

पर अचानक, जाने कहाँ से रेंगकर एक फनीले कोबरे का-सा विचार उसके मस्तिष्क में डंग मार गया, 'मैं तो विधवा हूँ।'

और तभी उसका हाथ जूड़े के गिर्द लिपटे मोतिया के गजरे तक जा पहुँचा। छूते ही लगा गोया जूड़े के गिर्द वाकई कोई कोबरा लिपटा हुआ है।

मगर दूसरे ही पल जाने क्या सूझा कि गजरा उतार देने के बजाय शीला ने उसे हाथ से दबाकर और कस लिया। और महसूस किया कि कोबरा के फन पर प्रहार करके मैंने उसे मार दिया है। फिर मन ही मन बड़बड़ा उठी—कुछ नहीं, यह सब मेरे कोढ़ी संस्कारों का फरेब था। हुं ! ऐसी दकियानूसियत में क्या रखा है ? ठीक है, मेरे पति नहीं रहे, मगर मैं जब तक जिंदा हूँ, तब तक जीवन जीने का हक तो मुझे है ही। परंपरागत विधवा की-सी मौत नहीं जीऊँगी। जिन्दगी की उस फिलासफी में यकीन नहीं मुझे। कितना

बड़ा फ्राड है कि पुरुष की मृत्यु के बाद भी नारी उसके नाम का साइनबोर्ड बनकर जीती रहे !

फिर उसने टी हाउस में जाकर एक प्याला गर्म-गर्म काफी का पीया। रगों का तनाव कुछ दूर हुआ तो बैठी-बैठी 'ईवनिंग न्यूज़' पढ़ने लगी। शो शुरू होने में अभी भी काफी समय बाकी था। मगर टी हाउस में तो शाम के छ: सात बजे से लेकर रात के दस साढ़े दस तक बैठना मुहाल होता है। शहर-भर के एँग्री यंग मैन, बेकार पत्रकार, टुच्चे राजनीतिज्ञ, निकम्मे आर्टिस्ट और खास तौर पर हिन्दी-उर्दू के फ्री लांसर क़िस्म के बीटनिकनुमा लेखकों और कवियों का तो वहाँ विशेष जमघट रहता है।

शीला जब उस फिश-मार्केट टाइप रेस्तरां के शोर-गुल से बोर हो गयी तो उठकर बाहर चली आयी। कुछ देर बाहर टहलती रही। इतने में शो का टाइम हो गया तो जाकर हाल में बैठ गयी।

बिलकुल साथ वाली सीट अभी तक खाली पड़ी थी और हाल का लाइटें बुझ गयी थीं। स्क्रीन पर सिगरेट पीने की मनाही से लेकर परिवार-नियोजन तक की स्लाइडें दिखाई जा रही थीं।

जिस समय शीला के साथ की सीट वाला आकर बैठा उस समय मूल पिक्चर की कास्ट चल रही थी। अंधेरे में सम्हल कर बैठते-बैठते भी उस व्यक्ति की बाँह दोनों सीटों के बीच की हत्थी पर टिकी शीला की बाँह पर आ पड़ी। शीला ने तुरंत अपनी बाँह नीचे से निकाल ली।

फिर शीला का ध्यान फिल्म के कथानक ने खींच लिया था। शुरू से ही काफी ट्रैजिक थी पिक्चर। एक मध्यवर्ग के अभावों-सने परिवार की कहानी थी। जैसे-जैसे कथानक आगे बढ़ता रहा, शीला को वह कहानी अपने मुहल्ले के हर घर की कहानी लगने लगी: वही दबा-घुटा जीवन, अभावों के बिजबिजाते कीड़े, आकांक्षाओं के अम्बार और

कभी न पूरी होने वाली उम्मीदें। पीढ़ी-दर-पीढ़ी दुहराया जाता हुआ एक ही ट्रैजिक-ड्रामा।

इंटरवल हुआ तो शीला अपने साथ वाली सीट पर बैठे अपने पड़ोसी श्रीपाल को देखकर चौंक गयी, "अरे ! श्रीपाल जी, आप !"

"ओह, शीलाजी ! भई खूब ! घण्टे भर से हम लोग साथ बैठे हैं और पता ही नहीं चला।"

"आप तो शायद लेट आए थे।"

"हाँ, मैं आया तो कास्ट चल रही थी। बुकिंग तो एडवांस थी ही। बस, आलस में ही देर हो गयी।" फिर थोड़ी देर बाद प्रसंग बदलने के इरादे से श्रीपाल ने यूं ही पूछ डाला, "कहिए, पिक्चर कैसी लग रही है ?"

"ठीक ही है।" शीला ने मरे मन से उत्तर दे दिया और फिर अचानक किसी सोच से सिहर उठी। खयाल आया : 'एक ही मकान में रहते हैं हम लोग, आधी रात को इकट्ठे घर लौटेंगे तो आस-पास के कमरों वाले क्या सोचेंगे ? बाबूजी और माँजी को कैसा लगेगा ? उफ यह तो बड़ी अजीब सी स्थिति में आ फँसी। अभी तो साढ़े दस बजे हैं। बस भी मिल जाएगी। पिक्चर छोड़कर ही चली जाऊँ तो कैसा ? मगर श्रीपाल को कैसा लगेगा ? यह तो इस बिचारे को अकारण ही अपमानित करना सा होगा। तो···तो फिर इससे स्पष्ट ही कह दूं। आखिर इसकी पोजीशन भी तो उतनी ही खराब होगी। सलाह कर लें, क्या हरज है ? मगर···नहीं, यह ठीक नहीं। इस तरह से तो श्रीपाल के सामने मेरे चरित्र का हलकापन ही उजागर होगा। तो...क्या हलकी मैं इसी बात से नहीं हो गयी कि अकेली बैठी सैकण्ड शो देख रही हूं ? बड़ी संयमी पोज़ करती थी न उसके सामने। अब खुल गयी सारी पोल।'

मगर फिर तुरन्त ही शीला अपने आप से झगड़ पड़ी : 'तो क्या

हुआ अगर श्रीपाल या अन्य पड़ौसी मेरे बारे में अपनी राय बदल लेंगे ? मुझे कौन सा अब इन लोगों के बीच रहना है ?'

"चलिए, शीला जी, एक-एक कप चाय पी आयें।"

श्रीपाल ने प्रस्ताव रखा। शीला बोली, "चलिए।" और कहते ही एकदम उठ पड़ी।

दोनों जने बाहर स्टाल पर खड़े-खड़े चाय पी रहे थे। श्रीपाल ने सिगरेट सुलगाते हुए कहा, "जब से सिनेमाहाल में स्मोकिंग बन्द हो गयी है, पिक्चर का आधा मजा ही मारा गया। भला मनोरंजन के स्थानों में ऐसे-ऐसे निषेधों की क्या तुक ?"

शीला जरा मुस्करा भर दी। सोचने लगी : श्रीपाल को हर प्रकार के निषेधों से गोया चिढ़-सी है। कई बार इसके साथ बातचीत का अवसर आया है। लगभग हर विषय पर कुछ इसी किस्म की बातें उसके मुंह से सुनी हैं। ठीक भी तो है। इन निषेधी पोस्टरो ने ही तों हमारी नैसर्गिक भित्तियों का सौंदर्य लूटा है। व्यक्ति के भीतर की तरलता को जमाकर बर्फ की सिल्लियों में परिणत कर दिया है। समाज न हुआ, आइस फैक्ट्री हुई।'

इन्टरवल खत्म हो गया तो शीला और श्रीपाल हाल में जा बैठे। पिक्चर फिर चलने लगी।

मगर शीला को अपने भीतर भी नामालूम-सा कुछ चलता हुआ महसूस होने लगा। एक अजीब लिजलिजी सी अनुभूति या कि अरक्षा का चिरमिराता सा एहसास।

कुल मिलाकर स्क्रीन पर से जो कुछ शीला तक पहुंच रहा था, वह तो उसे और भी छू-छेड़ जा रहा था। अपने से तर्क कर उठी : 'है ही क्या भला इस पिक्चर में ? वही परम्परागत रोना-झींकना। यही सब देखने आते हैं पैसा फूंककर ?'

कुछ देर तक तो वह अपने से जूझती-भिड़ती बैठी रही। पर जब

अंतर्द्वंद्व झने नहीं झिला तो श्रीपाल से कह उठी, "श्रीपाल जी, मैं··· मुझे तो यह पिक्चर प···बस. बेहद बोर किये दे रही है। और नहीं बैठ पाऊँगी।"—और इतना कहते ही वह अपना साड़ी वाला लिफाफा और सैंठल का डिब्बा ऊठाकर चल दी।

जल्दी-जल्दी कदम भर के हाल से बाहर निकल आयी और रीगल का पोर्टिको पार करके गेलार्ड के सामने से होकर टी हाउस की पार्लमैंट स्ट्रीट वाली साइड पर जा निकली। यहीं रीगल का बस स्टाप है। अभी ग्यारह नहीं बजे थे और स्टाप पर दो एक लोग भी खड़े थे। शीला को ढाढस बँधा कि आठ-ए के रूट की आखिरी बस अभी नहीं निकली।

फिर जिस समय वह सब्जी मण्डी के बस स्टाप पर आकर उतरी उस वक्त साढ़े ग्यारह बज चुके थे और वह एक अजीब ऑब-सैशन की-सी जकड़ में थी। हाथ में के पैकेट सम्हाल कर शाल ठीक से लपेट लिया और आइस फैक्ट्री के चौक की ओर चल दी।

खयालों ने उसे फिर उलझा लिया : 'यह अनिश्चय का रोग ही मुझे परेशान कर रहा है। बस, अब यह आखिरी फैसला है कि बाकी का जीवन सिर्फ अपने लिए जिऊंगी।'

और फिर अपने को झटककर खयालों से मुक्त कर देना चाहा। आइस फैक्ट्री के चौराहे से दायीं ओर मुड़कर पुल बंगश की ओर हो ली। सड़क के बायें किनारे बने आइस फैक्ट्री के बस-स्टाप पर निगाह पड़ गयी। विचार बदलने के लिए शीला ने बस-स्टाप के शेड पर लिखे लाल-लाल मोटे अक्षर पढ़ने शुरू कर दिये : 'आइस फ़ैक्ट्री।' और फिर 'आइस' शब्द पर ही सोचने लगी। 'आइस' यानी स्नो से अलग कोई चीज। स्कूल में अंग्रेजी का टीचर आइस और स्नो में फर्क समझाया करता था। जमा हुआ पानी स्नो और जमाया हुआ पानी आइस। या कि जमकर गिरी तरलता और जमाकर बेची जाने वाली

तरलता। तो असली अन्तर हुआ, उपयोगिता। प्रकृत गरमी से बचने के लिए इसे ठण्डा करना उपयोगी है तो इस प्रक्रिया के लिए आइस फैक्ट्रियां भी जरूरी हैं। मोल चुका कर ही तो उपयोगिता खरीदी जाती है। यही आइस फैक्ट्री का बस स्टाप, रोज यहां से दफ्तर की स्पेशल बस पकड़ती हूं। दफ्तर, जहां दिन भर तन-मन तोड़ मेहनत और फिर उसी तरह बस में बैठकर घर। घर, जिसमें छः जनों का परिवार, चिन्ताएं। बाबूजी आखिरी दमों पर हैं, रिटायर्ड हैं। सारा घर मुझे ही तो चलाना पड़ रहा है। तो यह सब क्या मोल चुकाना नहीं? मगर मोल चुकाकर जो बर्फ खरीदती हूं, उसी में अपने व्यक्तित्व को जमा डाला है मैंने। अपनी आकांक्षाओं को जीरो डिगरी तक गिरा दिया है। पर, अब नहीं होने दूंगी ऐसा। 'आइस-फैक्ट्री' के इलाके ही नहीं रहूंगी अब तो।'

इसी कशमकश में घर आ गया। शीला ने ड्योढ़ी का दरवाजा खटखटाया तो मांजी ने झट आकर खोल दिया। शीला बिना कुछ बोले ही सीधी कमरे में चली गयी। मांजी भी दरवाजा बन्द करके पीछे-पीछे आ पहुंची।

पास-पड़ोस के लगभग सारे कमरे बन्द थे। वे लोग सो चुके थे। शीला ने हाथ के पैकेट नीचे रखते हुए देखा कि बाबूजी उकडू बैठे हुए हैं; केदार, निम्मो और बिल्लू सहमे से हैं। सबके चेहरों पर मुर्दनी सी थी, जो अब शीला को देखकर धीरे-धीरे उड़ रही है।

कुछ देर के बाद सब जने कुछ नार्मल हो गए तो मांजी ने धीरे से पूछा, "कहां रह गयी थी बेटी? बड़ी फिकर रही।"

शीला के कोई उत्तर देने से पूर्व ही बाबू जी ने पूछा, "खैरियत तो है न बेटा?"

शीला ने आंखें झुकाए-झुकाए ही एक संक्षिप्त सी 'जी' कह दी। मांजी बोलीं, "यहां तो न जाने कैसे-कैसे मनहूस विचार आने लगे थे, मरे। भगवान न करे, कहीं कोई ऐसी-वैसी बात तो नहीं हो गयी।

'आये-दिन दिल्ली में बसों-मोटरों के साथ कुछ न कुछ होता ही तो रहता है, मुन्ना ।"

माँजी की इस बात के साथ ही शीला के ज़हन की आँखों के सामने कई बरस पहले की वह शाम खिंच आयी, जब इसी तरह घर भर के लोग उसके पति की इन्तजार में बैठे थे और सूचना मिली थी एक्सीडैंट की।

फिर शीला ने जब एक-एक करके सबके चेहरों की ओर देखा तो भीतर कहीं कुछ चीस उठा। माँजी ने फिर कहा, "चलो, बेटी, कपड़े बदल लो। मैं खाना परस दूं। सब लोग अभी तक भूखे ही बैठे हैं।"

"क्यों ?" शीला ने चौंक कर पूछा।

"बस, यूं ही। मन ही नहीं हुआ किसी का।"

अब शीला से यह कहते नहीं बना कि वह खाकर आयी है।

इतने में साड़ी के लिफाफे और सैंडल के डिब्बे पर निगाह जा पड़ी झट डिब्बा उठाकर खोल डाला। सैंडल निकालकर निम्मो की ओर बढ़ाती हुई कहने लगी, "देख, निम्मो ! पसन्द है ?"

निम्मो ने सैंडल हाथ में लेकर देखे, "हाय, दीदी, यह तो बड़े सुन्दर हैं। कित्ते के हैं ?"

"पन्द्रह के। पहन के देख, पूरे भी हैं ?"

"तो क्या मेरे लिए लायी हो ?"

"और नहीं तो क्या ? सुबह कह नहीं रही थी तुम कि चप्पल टूट गयी है ?"

इस पर निम्मो ने उछल कर शीला को आलिंगन में कस लिया, "ओह, दीदी ! तुम कितनी ग्रेट हो !" —निम्मो की आवाज़ में नेह उंड़िल-उंड़िल पड़ रहा था।

और शीला ने उस आलिगन की जकड़ में यह साफ महसूस किया कि शाम से ही जो अरक्षा का छछीला एहसास उसके जिस्म के साथ चिपका हुआ था, वह पुंछ गया है, और अब वह एकदम सुरक्षित है। ●

अनलिखी कहानी की स्लिपें

कहानियों के प्लाट वाली फाइल : याददाश्त के लिए लिख कर रखी हुई कथानक की रूप रेखा......समय-समय पर स्मरण शक्ति को खरोंच-खरोंच कर कुछ एक स्लिपों पर टीपे गए कुछ वाक्य अथवा वाक्यांश—इन स्लिपों में अनुभूति के उन चन्द खौलते क्षणों की ठण्डी हुई याद है, जिन लमहों जिंदगी कच्चे लोहे से ढल कर इस्पात बनने की प्रक्रिया में होती है।

अनुभूति की इन बिखरी हुई स्लिपों को तरतीब दे दूं तो यह बन जाय कहानी और मैं बन जाऊँ सृजेता। और तब सृजेता के दम्भ को ओढ़े-ओढ़े फिरूं।

पर ओढ़ना कुछ भी बोझ लगने लगा है। इसलिए लो। उतार फेंक रहा हूं इस दम्भ के लबादे को।

यह रहीं स्लिपें। सृजन का मोह हो तो बना लो कहानी या फिर रख लो संजो कर किसी 'फाइल' में।

बेतरतीब स्लिपों में पहले यही हाथ आ लगी है, इसलिए—

स्लिप नं० १ :

"सुना है जिनकी अकाल मृत्यु हो जाती है, उनकी आत्माएं सदा भटकती रहती हैं......चैन नहीं पातीं......इस-उस शरीर में प्रवेश कर उनकी रूहों पर हावी हो अपनी अतृप्ति की हूड़क मिटाने की नाकाम कोशिश करती रहती हैं—पता नहीं शरीरों की आत्माएं होती हैं या नहीं और अकाल मृत्यु को प्राप्त हुओं की रूहें इधर-उधर भटकती हों, न हों, मगर आकांक्षाओं की आत्माएं जरूर होती हैं और उनकी अकाल मृत्यु पर उनकी अतृप्त रूहें जरूर भटकती रहती हैं।"

स्लिप नं० २ :

"पम्मी : परित्यक्ता। उम्र, पचीस। दो वर्षीया पुत्री की माँ। रंग साफ। कद लम्बा। बदन इकहरा पर रेखाएं उभारता। शिक्षा-सामान्य। माँ-बाप ने ब्याह दी थी एक रेलवे के बाबू को, जिसने पत्नी की आड़ में 'सोसाइटी-गर्ल' बनने के लिए पम्मी को बेतरह परेशान किया। वह मानी नहीं। नहीं मानी तो झगड़े-टंटे, मार-पीट और आखिर तलाक।"

स्लिप नं० ३ :

"पाल : वय तीस के आस-पास। कॉलेज में लेक्चरर। आगे-पीछे कोई नहीं। आकांक्षाओं का अम्बार। प्रैक्टिकल होना चाह कर भी सेंटीमेंटल अधिक। हर समय कार्यरत। पर उपलब्धियों के नाम पर एक एक्सपोज़्ड-फिल्म, इम्मेच्योर डिलिवरी या फिर कोई कच्चा टूटा फल।"

स्लिप नं० ४ :

"जिंदगी की सबसे महत्वपूर्ण घटनाएं या दुर्घटनाएं इस तरह आन की आन में घट जाती हैं कि उस समय उनके होने का एहसास तक नहीं होता। मगर बाद में उसी एहसास-हीनता का एहसास सांस-

साँस को जहरीला बनाये रहता है।"

स्लिप नं० ५ :

"इस तरह अपने को मत तोड़ो पम्मी। ज़िंदगी हर चीज़ से ऊपर है और दर्द कोई इस काबिल नहीं कि उसे जान-बूझकर पाला जाय।" पाल की इस बात पर पम्मी बोली कुछ नहीं, सिर्फ देखती रह गयी।

पाल ने अपनी निगाहों के लरज़ते हुए हाथ पम्मी की आँखों के सशक्त बाजुओं की ओर बढ़ा दिये।

पम्मी की निगाहों के एक हाथ में खींच थी, दूसरे में फेंक।

स्लिप नं० ६ :

"पाल ने पम्मी की गोद से रेणु को लेना चाहा। पम्मी मना न कर सकी। रेणु को चूम कर पाल तुतला उठा—"मेली बितिया लानी।"

तब उस तुतलाहट की प्रतिध्वनि पम्मी के भीतर के गुम्बदों में गूंज उठी। उस गूंज का शोर जब कुछ थमा तब पम्मी को लगा कि उसके मस्तिष्क में से किसी ने उझक-झाँक कर उसे कोस-उलहना दिया : यह अच्छा नहीं हुआ।"

परन्तु आकांक्षाएं तो अपने प्रश्नों का उत्तर चाहती थीं। पाल से सहा नहीं गया कि विवेक आकांक्षाओं के प्रति अशिष्ट हो उठे। वह फिर कह उठा—"मेली ही तो बितिया है।"

अपनी लज्जा औरों के सामने नंगी हो, कौन चाहता है! पर पम्मी उस क्षण चाह उठी थी। और जब उस नंगी लाज को पाल ने अपनी निगाहों से ढक-समेट लेना चाहा, तब उसने साफ देखा कि अधिकार के झरोखे से समर्पण उझक-आ रहा है।

और तब पम्मी दूरियों के कई पर्दे एक साथ उठा कर करीब सरक आयी।

स्लिप नं० ७ :

मम्मी का अंतर्द्वन्द्व : "मैं किसी की पत्नी हूँ......सात भांवरें... अग्नि......वेद मंत्र......धर्म......पातिव्रत्य......सतीत्व...... क्या हुआ जो उन्होंने मुझे त्याग दिया ? भांवरों के बंध तो अटूट होते हैं...और फिर, पाल ? उसे मैं दे भी क्या पाऊँगी ? मेरे ओंठों पर किसी के चुम्बन चिपके हुए हैं, पुंछ नहीं सकते, गात पर किसी के आलिंगन सिले हुए हैं, उधड़ नहीं सकते।"

स्लिप नं० ८ :

"एक शाम क्लाक-टावर के पास वाले पार्क में :
पाल से मिली मम्मी......मिलन की गली पर प्रवेश-निषिद्ध की तख्ती टांगती पम्मी......निगाहों की खींच की डोरियाँ समेटती पम्मी...... भाँवरों की गिरहें दिखाती पम्मी।"

स्लिप नं० ९ :

पाल की डायरी का एक पन्ना : "तट मैला था, लहर आयी, धो गयी......तट सूखा था, लहर आयी, भिगो गयी...तट नंगा था, लहर आयी, ढक गयी...तट फिर मैला है, फिर सूखा है, फिर नंगा है...... लहर थी...आयी, छुई और चली गयी...स्पर्श की फैन मैल की एक और परत दे गयी...शुष्क अचूमे ओंठों को ओंठों की लत लगा गयी... नंगे जिस्म को पल भर का परिधान दे कर नग्नता का आभास करा गयी।"

स्लिप नं० १० :

पाल की डायरी के ही एक और पन्ने पर कुछ कटे-गुदे वाक्यांश : "गोया सिगरेट की बेकार राख थी जो झाड़ दी...क्यूटैक्स की खाली हुई शीशी थी, जिसे फेंक दिया...बिखर गयी लिपस्टिक थी कि फैला हुआ काजल, जो पोंछ डाला गया...अखबार की रद्दी...पान की

फोक, वर्जनाओं का पीकदान…"

स्लिप नं० ११ :

एक लम्बे अंतराल के बाद यूं ही एक दिन रास्ता चलते पाल और पम्मी का आमना-सामना हो जाता है :

"कैसी हो पम्मी ?"

"ठीक हूँ।" पम्मी गहरे सांस के स्वर में कुछ इस ढंग से 'ठीक हूँ' कहती है गोया कह दिया हो : ठीक न भी होऊँ तो क्या करूँ ?"

"रेणु कैसी है ?"

"ठीक है।"

"अब तो खूब बातें करने लगी होगी ?"

"हाँ, कुछ-कुछ।" पम्मी सहज भाव से कह देती है।

पाल को लगता है जैसे मौज किनारा छू गयी हो। पम्मी की सहजता की शह पा कर पूछ बैठता है, "पम्मी……तुमने फिर क्या सोचा ?"

"सोचना क्या है पाल ! सब ठीक है।" और फिर तुरंत ही कुछ अन-ईज़ी सी हो कर, गोया भीतर के कुछ को बाहर फूट-बहने से रोकती हुई अपना मुँह कधे की ओर घुमा लेती है। फिर तेज़ी से पलकें झपकती हुई चलने को हो आयी-सी कह उठती है, "अच्छा पाल, अब चलूँ।" और कहते ही आगे बढ़ जाती है।

स्लिप नं० १२ :

पाल की डायरी का एक असम्बोधित सम्बोधन : "तुम देखती समझती सब कुछ हो, समझाना-दिखा आना कुछ नहीं चाहती—नारी हो न !"

स्लिप नं० १३ :

एक और सम्बोधन : "कोढ़ी संस्कारों की रोगिणा तुम, अनबंधे

बंधनों में बंधी बैठी हो ! तुम्हारे 'वे' तुम्हें खोल-फेंक चुके हैं। तुम खुल नहीं पा रही हो। चीर डाले गए आंचल को ओढ़े रहना चाहती हो, जबकि उसे उतार फेंकने की सब सुविधाएं अब तुम्हें उपलब्ध हैं और नया अंचरा भी प्रस्तुत है।"

स्लिप नं० १४ :

"कृष्ण-जन्माष्टमी की रात। लक्ष्मीनगर के गीता-भवन में हिंडोले। दर्शकों की भीड़। भीड़ पर नियंत्रण रखने के लिए भवन के बाहर लकड़ी की बल्लियां गाड़ कर दो अलग-अलग रास्ते बनाए गए थे, जो भीतर के मुख्य द्वार पर जा कर मिल जाते थे।

...भीतर झांकिया थीं—

एक झांकी :

...देवकी ने कृष्ण को जन्म दे दिया है...कंस की क्रूर दृष्टि से बचाने के लिए वासुदेव उसे लेकर नंदगांव पहुंचाने चल पड़े हैं... कारागार के सारे द्वार खुल गए हैं...प्रहरी बेसुध पड़े हैं...पाल उस झांकी को देख कर सोचने लगता है : पम्मी अगर चाहे तो अपने प्यार के गोपाल को वर्जनाओं के कंस की क्रूर दृष्टि से बचा कर आकांक्षाओं के नंदगांव पहुंचा सकती है। इस समय सारे मुंदे द्वार खुले पड़े हैं और कोई प्रहरी जग नहीं रहा।

दूसरी झांकी :

पालने पड़े बाल-कृष्ण किलोल रहे हैं...यशोदा मैया डोरी पकड़े झुलारही है......

और पाल को वह पालना अपने प्यार के शिशु का लग उठता है... निगाहों की डोर बंधा...सम्भावनाओं की यशोदा डुलाती हुई...

और फिर कई झांकियों के बाद एक और झांकी :

...राधा-कृष्ण की झाँकी...निगाहों की खींच की झांकी...

भाँवरों के बंध टूटने की झांकी....लोक-लाज के छिलके उतरने की झांकी...

भीतर की भीड़ बहुत बढ़ गयी थी। झांकियां अभी बहुत बाकी थीं। पाल ही थक चला था।

लौटने को मुड़ा ही था कि भीतर का भीड़ में खड़ी पम्मी पर निगाह पड़ गयी।

पम्मी एक झांकी के सामने खड़ी बड़ी तन्मयता से निहार रही थी। वह झांकी थी :—

...राधिका अभिसार-स्थल की ओर लपकी जा रही है...आंचल जो सर से सरक कर कांटों में उलझ गया था, उसे अब झटक कर छोड़-फेंक चुकी है...और अब चली जा रही है—भाँवरों के बंध तोड़ कर, निगाहों के छंद ओढ़ कर...

स्लिप नं० १५ :

पाल की डायरी का एक पन्ना, जिस पर तारीख के साथ-साथ समय का भी उल्लेख। और शीर्षक के रूप में रेखांकित की हुई एक पंक्ति—"शादी के बाद की पहली रात।"

...पम्मी जो अब तक संयम के दरवाजे जबरदस्ती भिड़ाए बैठी थी, आज मेरे पास बैठी हुई है। थोड़ी देर के लिए उसने उन दरवाजों की दरीचों में से झर रहा कुछ शायद फिर से झांक लिया था, इसीलिए वह दरवाजे खुलने से पहले हड़बड़ा-सी उठी थी। मगर मैंने उसके कोढ़ी संस्कारों की कलाई को अपनी इमोशन्ज की उंगलियों से घेर लिया। घिरते ही अवर्जित प्रकृति अंतर्वेगों में घुल गयी। और उस घोल के समंदर में ज्वार आ गया : पम्मी ने अपने हठ के भाटे से बार-बार उस ज्वार को बिठा देने की कोशिश भी की, पर हर बार वह ज्वार अपने ऊफान की हदें और भी ऊँचाता गया—अतृप्ति के मद

में...तृप्ति का चाँद चूमने के लिए।

"...अब कोई जूठा चुम्बन पम्मी के ओंठों पर नहीं बचा—सब मैंने पोंछ डाले हैं...अब किसी पराए आलिंगन की जकड़ उसे अपने गात पर महसूस नहीं होती——वे सब मैंने उधेड़ दिए हैं।" ●

ऑपरेशन की रात

शाम को जब शर्मा जी और सविता अस्पताल पहुंचे, उस समय ज्ञान बहिन को ऑपरेशन थियेटर से निकालकर प्राइवेट वार्ड के एक कमरे की ओर ले जाया जा रहा था।

दो नर्सें पहियों वाली मेज को ठेलती हुयी बायीं ओर ले गयीं। शर्मा जी लेडी डाक्टर के साथ बातें करने के लिए थोड़ी देर को रुक गये। सविता बरामदे की दीवार के पास जरा सा परे हट कर खड़ी हो गयी।

शर्मा जी और लेडी डाक्टर की फुसफुसाहट भर ही सविता तक पहुँच पा रही थी। स्पष्ट कुछ भी उसकी समझ में नहीं आया। शर्मा जी रह-रहकर एक हाथ से कनपटियों के पास बचे बालों को खुजला लेते और दूसरे हाथ से खादी की धोती का छोर थामे सहमी-सी मुद्रा में लेडी डाक्टर से बातें करते दिखायी पड़ रहे थे।

मगर फिर लगा कि लेडी डाक्टर की किसी बात ने शर्मा जी की सारी बेचैनी एकदम दूर कर दी है। वहीं खड़े-खड़े उन्होंने धोती के

छोर को ऊंचा करके माथे पर फूट आयीं पसीने कीं बूंदें पोंछ डालीं, और फिर सविता तक पहुंचते-पहुंचते कुछ इस किस्म की सांस छोड़ी, गोया बड़ी देर से रुके हुए श्वास को खतरा टल जाने पर फेफड़ों की शक्ति भर फेंक दिया हो।

संकट बीत जाने वाली निढालता शर्मा जी के स्वर में घुल आयी। सविता की पीठ पर हाथ रख कर कहने लगे, "सविता बेटी, भगवान का शुक्र है कि ज्ञान बहिन का ऑपरेशन कामयाब रहा।" और फिर दायें हाथ के अंगूठे से तर्जनी की दो गांठों की लम्बाई तक निशान लगाकर आकार बतलाते हुए कहने लगे, "डाक्टर कह रही थी, इतनी बड़ी पथरी निकली है पेट में से।" इतना कहने के तुरन्त बाद ही सविता की पीठ थपथपाते हुए बोले, "अच्छा तो बेटी अब तुम्हें एक कष्ट करना पड़ेगा।"

"कहिए।"

"बात यह है कि समाचारपत्र का अग्र लेख अभी तक नहीं दे सका हूं। इसके अलावा प्रेस में दिन रात काम चल रहा है। कन्ट्रेक्ट के अनुसार इसी हफ्ते काम खत्म नहीं हुआ तो हजारों की रकम पर पानी फिर जायेगा। इसलिए रात को मेरा रहना तो ही नहीं सकेगा। अगर तुम ज्ञान बहिन के पास रह जाओ तो कैसा?"

"जी मुझे कोई आपत्ति नहीं। आप जैसा आदेश दें।"

और फिर शर्मा जी अपनी आदत के अनुसार सविता की पीठ थपथपाकर अस्पताल के गलियारे से बाहर चले गये। सविता ज्ञान के कमरे की ओर चल पड़ी।

कमरे में पहुंचकर वह ज्ञान के बेड के पास पड़ी एक आराम कुर्सी पर बैठ गई। ज्ञान बेसुध पड़ी हुई थी। दीवार घड़ी की टिक-टिक और कभी-कभी गलियारे में से गुजर कर जाती हुई नर्स के कदमों की

धीमी सी आहट के सिवा एकदम श्मशान की-सी खामोशी कमरे में भर रही थी।

सविता जब बैठी-बैठी थक गई तब कुर्सी में ही पीठ टेककर अध-लेटी-सी हो गयी। रात भर जागने की बात सोचते ही उसे आगामी कल को दास साहब से मिलने की बात का ध्यान हो आया। रतजगे की थकन लेकर एक बड़े अधिकारी से इतनी महत्वपूर्ण भेंट में सफलता संदिग्ध लगने लगी। सोचा, जरा देर को झपकी ले लूँ।

"अ...आ...आ...आ...आ...". ज्ञान की हल्की सी कराह सुनकर सविता कुर्सी में ही उठकर बैठ गई। कराह के साथ ही ज्ञान की गर्दन धीरे-धीरे हिलने लगी और तकिए पर टिकी-टिकी ही दूसरी ओर लुढ़क पड़ी।

क्लोरोफार्म की खुनूदगी में ज्ञान ने अपना हाथ उठाकर पलंग की पाटी पर पटक दिया, काँच की चूड़िया खनक उठीं।

चूड़ियों की आवाज कमरे भर में फैल गयी। सविता फिर से आराम कुर्सी की पीठ पर बिछ गयी। ज्ञान का भरा पूरा सुडील शरीर क्लोरोफार्म के नशे में निढाल पड़ा सविता को कुछ इस तरह का जान पड़ने लगा गोया सेमसन के बाल काटकर उसकी सारी शक्ति छीन ली गयी हो।

ज्ञान की उपमा सेमसन से देकर सविता को एक बार तो बड़ा अटपटा सा लगा, मगर फिर फौरन ही अपनी बात सँगत-सी महसूस हो आयी। स्त्री होते हुए भी ज्ञान के व्यक्तित्व में स्त्रैणता की बजाय पुरुषत्व ही अधिक झलकता था।

फिर इसके साथ ही सविता को लगा कि ज्ञान के व्यक्तित्व का वह रूप शर्मा जी के सम्पर्क का ही प्रतिफल है। शर्मा जी का पिरामिडी व्यक्तित्व ही अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति में वह ठोसपन और कर्मठता पैदा कर देता है जो ज्ञान में थी।

श्रौर तब सविता भी श्रपने भावी ठोसपन की सुखद कल्पना में खो चली। उसकी श्रधमुंदी श्रांखों के सामने पिरामिड ही पिरामिड खिच गये।

दो-पहर रात बीत गयी। क्लोरोफार्म का प्रभाव कुछ हलका हो गया तो ज्ञान को दर्द की तीव्रता श्रनुभव होने लगी। इसी बीच वह कई बार हाथ-पांव पटक चुकी थी।

सविता को लगा गोया ज्ञान के रूप में कोई गोली लगा पक्षी पड़ा फड़फड़ा रहा हो. ऐसा जान पड़ा कि श्रॉपरेशन के बाद ज्ञान के व्यक्तित्व का समूचा ठोसपन उस पथरी के रूप में ढलकर बाहर निकल गया है।

इसी दौरान एक बार नर्स श्राकर छाती तक कम्बल श्रोढ़ा गयी थी श्रौर जाती बार सविता से कह गयी थी, "जब जरूरत पड़े, बुला लेना। श्राफिस में रहूंगी।"

श्रौर फिर काफी देर तक उस बीमार कमरे में एक श्रजीब क़िस्म की क्लोरोफार्मी श्रलसाहट भरी रही।

मगर धीरे-धीरे ज्ञान के दर्द ने एक घुटन भरी कसमसाहटी हलचल पैदा करनी शुरू की। दर्द को ज़ब्त करने के लिए ज्ञान कभी श्रपने निचले श्रोठों को ऊपरी दांतों से काट-काट उठती, तो कभी निचले दांतों को ऊपरी श्रोठो में गाड़ देती। श्रोंठ काटते समय वह श्रपनी दोनों मुंदी श्रांखों को पूरे जोर के साथ मींच भींच लेती। मगर जब हर सम्भव प्रयास के बावजूद चीख रोके न रुकती, तब एक बहुत ही भयावह स्वर श्रोंठों को फाड़कर सन्नाटे को बींध-चीर कमरे की दीवारों से टकरा उठता।

सविता को लगा कि इस दर्द की चोट दीवारों को हिला देगी, श्रौर छत-समेत सारी दीवारें उस पर श्रा गिरेंगी।

इसी बीच ज्ञान की बेहोशी को दर्द के एक बहुत ही तीखे वार ने

फिर से झटक दिया। उसकी पहले से भी तेज चीखों से आस-पास के कमरे के मरीज भी हड़बड़ा उठे। ड्यूटी वाली नर्स की ऊँघ भी टूट गई। वह भागी-भागी आ पहुंची। ज्ञान की हालत देखकर नर्स लेडी डाक्टर को जगा लायी। सविता ज्ञान के पास सहमी हुई बैठी रही।

ज्ञान बेतहाशा हाथ-पाँव पटकती जा रही थी। नर्स उसे सम्हालती रही। लेडी डाक्टर इन्जेक्शन लगाने लगी।

इंजेक्शन की सूई बांह के मसल में चुभी हुई थी। स्रिंज की दवा धीरे-धीरे ज्ञान की नाड़ियों में प्रवेश करने लगी। इसी स्थिति में दर्द का एक बेकाबू दौरा उठ पड़ा। अब की बार ज्ञान ने इतने जोर से अपना निचला ओंठ काटा, कि उसमें से खून निकल आया। मगर चीख फिर भी न रुक सकी। और कटे ओंठ पर फूट आयी रक्त की दो-एक बूंदें ज्ञान के दायें गाल पर लुढ़क आयीं।

रूई के फाहे से खून पोंछ कर लेडी डाक्टर चली गई। और करीब पन्द्रह बीस मिनट तक कुलबुलाने के बाद ज्ञान निढाल हो गई। पर हलकी दबी एक-आध कराह बीच-बीच में अब भी निकल पड़ती। उस कराह की आवाज कुछ इस तरह की लग रही थी, गोया कहीं बहुत गहरे से या कई बंद दरवाजों को बींध कर कोई घुटा-भिचा स्वर फूट पड़ रहा हो।

उस बीमार कमरे की पीलियाई रोशनी बरामदे में से गुजर कर जंगलों के सुराखों की राह बाहर झांक रही थी। ज्ञान के भी किसी भीतरी बीमार कमरे में से कोई पीलियाई रोशनी ओठों की राह बाहर सरक-उझक आने का प्रयास कर रही थी।

ज्ञान के जख्मी ओठों पर कुछ फड़कन दिखाई दी, और अस्पष्ट स्वर में टूट फिसले कुछ बीमार-से शब्द। पर उन टूटे शब्दों को बड़े यत्न से जोड़ने पर भी विशेष कुछ भी सविता के हाथ न लगा।

उस निष्फल जोड़-तोड़ के कष्ट से अपने को बचाने के लिए

सविता मन ही मन उन वाक्यों की रचना और रिहर्सल करने लगी जो उसे कल को दास साहब से कहने थे। वह इस बात के प्रति सतर्क रहना चाहती थी कि दास को प्रेस के काम के स्पेसिमेन पसंद आने ही चाहिएं। और फिर शर्मा जी के शब्द याद आ गये, 'कैसे भी हो सविता बेटी यह कट्रेक्ट मिलना ही चाहिए, नहीं तो संस्था के नाम को बहुत धक्का लगेगा।'

उस कमरे के सन्नाटे को बींधती हुई दीवार घड़ी की टिक-टिक सविता के विचारों के उतार-चढ़ाव में ताल देती जा रही थी। ज्ञानके मुंह से बेहोशी की स्थिति में ही कभी-कभी एक-आध टूटा-फूटा निर्थक-सा वाक्यांश बिखर पड़ रहा था।

एक बार तो सविता को कुछ लमहों के लिए बड़ा अजब सा एहसास हो आया। सामने कम्बल ओढ़े चित लेटी हुई संज्ञा शून्य ज्ञान एक 'इजिप्शियन ममी' सी लग उठी, जो शर्मा जी के पिरामिडी एहसान के बोझ तले दबी पड़ी हो। शर्मा जी की महानता के बारे में सोचते सोचते सविता को याद आया कि जब उसने पहले पहले उन्हें देखा था तब उसे लगा था गोया मिस्र का कोई पिरामिड देख रही हो। और उनकी फर्म में नौकरी मिल जाने के बाद उसने मालिक और नौकरों के बीच आज के जमाने में जो आदर्श सम्बन्ध देखा तो सविता को ठीक उसी प्रकार का आश्चर्य हुआ था जैसा कि यह सोचकर होता है कि इतने वज़नदार पिरामिड मिस्र के रेगिस्तान में उस जमाने में किस तरह पहुंचाए गये होंगे, जबकि यातायात की सुविधाएँ तक उपलब्ध न थीं।

सविता सोचने लगी, शर्मा जी ने कभी अपने नौकरों को नौकर नहीं समझा। हर एक के दुःख सुख में आत्मीय की तरह साथ देते हैं। सगी बहिन के लिए भी इतना कौन कर सकता है, जो उन्होंने ज्ञान बहिन के लिये किया! मुझे भी बिल्कुल बेटी की तरह ही मानते हैं। कितनी मुसीबतों में था मैं, जब शर्मा जी ने सहारा दिया था!

पिता की अकाल मृत्यु के बाद कॉलेज तो छोड़ना ही पड़ा था, रोटियों तक के भी लाले पड़ गये थे। छोटे-छोटे भाई-बहिन थे...विधवा माँ थी, उफ ! उन दिनों की याद भी बींधकर रख देती है। साल भर भी तो नहीं बीता है। पर लगता है एक जमाना हो गया। यह सब शर्मा जी के कारण ही तो। नौकरी ही नहीं, पिता का दुलार भी मिला है इन से।

कुर्सी में पीठ टिकाए टिकाए ही सबिता ने करवट बदली और सिकुड़ी हुई टाँगों को खुलकर फैला दिया। घड़ी की टिकटिकाती आवाज और आलस भरा वातावरण कुछ 'अनईजी' सा लग उठा तो सविता ने खुली खिड़की की राह बाहर झाँकना शुरू कर दिया। रात किसी कैंसर के मरीज की तरह अपनी मृत्यु के प्रति आश्वस्त हुई बीत चली थी। गलियारे में नर्सों के कदमों की आहट भी काफी देर से सुनाई नहीं पड़ी थी। कुल मिलाकर एक मातमी सी खामोशी...हर चीज उदास-उदास और रोगी। यहाँ तक कि कमरे की हवा भी बीमार-सी लगने लगी। गोया ज्ञान बहिन की तरह पूरे वातावरण को क्लोरोफार्म सुंघाकर पेट का ऑपरेशन कर डाला गया हो।

मगर फिर थोड़ी देर के बाद ज्ञान के शरीर में कुछ हरकत हुई। और बड़बड़ाहट के रूप में जो शब्द उसके मुंह से फूटे, उन्हें सुनकर सविता कुर्सी में पड़ी-पड़ी ही चौंककर काँप उठी।

थोड़ी देर पहले की अस्पष्ट और निरर्थक-सी लगने वाली क्लोरोफार्मी बड़बड़ाहट अब धीरे-धीरे अर्थ ओढ़ चली थी। अफीमची के के बोलों की सी लटक होते हुए भी उस समय ज्ञान के शब्दों ने जो कुछ सविता के समक्ष उजागर कर दिया था, वह उसके लिए भी किसी पेट के ऑपरेशन से कम असह्य नहीं था। पर सविता को लगा, मेरा ऑपरेशन होश हवास कायम रहते ही कर डाला गया है।

श्रौर तब वह बड़े जोरों से चाह उठी कि कोई उसे भी क्लोरोफार्म सुंघा दे, या मार्राफिया का इन्जेक्शन दे दे।

रात भर की जगी होने के बावजूद श्रब सविता की श्रांखों में नींद नहीं रही थी श्रौर न कोई श्रलसाहट ही बाकी बची थी। कुर्सी की बांहों को दोनों हाथों से थाम कर वह श्रागे को झुक श्रायी। श्रपना कान ज्ञान के बड़बड़ाते श्रोठों के करीब लाकर श्रौर भी कुछ सुन लेने का उतावलापन लिये वह बड़ी देर तक उसी तनी मुद्रा में बैठी रही।

घड़ी की टिक-टिक श्रब उसे सुनाई नहीं दे रही थी। भीतर मच उठे शोर से परेशान होकर सविता चाह उठी, कि चिल्ला पड़ूँ। एक बार तो उसे लगा भी कि चिल्ला उठी हूँ। मगर पसीने की चद बूंदों के श्रलावा श्रौर कुछ भी फूट-चू न सका। घुटन श्रौर श्रांतक का तनाव उसकी रगों को ब्रेकिंग प्वाइन्ट तक ले श्राया।

श्रौर उस प्वाइन्ट पर पहुंचकर श्रब सविता को ज्ञान के रूप में शर्मा जी के काम का वह स्पेसिमेन दिखाई देने लगा, जो जाने कितने दास साहबों द्वारा पसन्द किये जाने के लिए प्रस्तुत किया जा चुका था।

सविता को ऐसा महसूस हुश्रा कि ज्ञान के वह शब्द डाइनामाइट थे। डाइनामाइट, जो फट उठा था, श्रौर सविता के विश्वास श्रौर श्रद्धा के मजबूत पिरामिड को टुकड़े-टुकड़े कर उछाल गया था। श्रौर फिर सविता को लगा कि उसी टूटे हुए पिरामिड का ही एक टुकड़ा पथरी के रूप में ज्ञान बहिन के पेट में जा गिरा था। ●

हल्दी के दाग

मुझे विश्वास है कि मेरे मस्तिष्क की केनवस पर उभरे हुए उस चित्र को समय के तीखे नाखून खुरच नहीं सकेंगे। जब-जब भी मेरी स्मरणशक्ति विगत की तहों को उलटेगी, सोमी मुझे जरूर याद आयेगी।

बात उन दिनों की है, जब मैं नई दिल्ली के एक दैनिक का संपादक था और पत्र के किसी काम से मेरठ जा रहा था।

ट्रेन में मेरे सामने वाली सीट पर कुछ परे हट कर वह बैठी हुई थी, और उसने मेरे बार-बार देखने तथा कई-कई मिनट तक देखते रहने को शायद भाँप लिया था। उसके चेहरे से मैंने यह भी पढ़ लिया था कि वह मन ही मन मेरे बारे में अवश्य कुछ सोच रही है।

इस प्रकार आँखों ही आँखों में हमारी जान-पहचान हो गई, कम से कम इतनी तो जरूर कि अवसर मिलने पर यह तो पूछ ही सकूँ कि 'आप कहाँ जाएँगी ?'

पर इसा बीच मुझे पता चला कि वह अकेली नहीं थी, अपने ताऊ जी के साथ गर्मियों की छुट्टियाँ बिताने देहरादून जा रही थी।

"सोमी, जरा थैले से अखबार तो निकालना।" उसके ताऊ जी अपने कोट की ऊपर वाली जेब से ऐनक निकालते हुए बोले।

सोमी ने ऊपर वाली बर्थ पर रखे थैले में से अंग्रेज़ी का एक समाचार पत्र निकालकर उन्हें दे दिया और फिर अपनी जगह बैठ गई।

कुछ देर तक खामोशी रही। सोमी के ताऊ जी अखबार पढ़ने में व्यस्त थे। सोमी खिड़की के बाहर दूर-दूर तक फैले खेतों को देखती रही। कभी-कभार बीच-बीच में एक-आध क्षण के लिए उसकी निगाहें मेरी आंखों से टकराकर तेज़ी ते खिड़की के बाहर कूद पड़तीं और अपनी पकड़ी गई चोरी की झेंप मिटाने के लिए जल्दी-जल्दी झपक-झपक कर दूर तक फैले खेतों की हरियाली में आश्रय ढूंढ़ने लगतीं।

इतने में सोमी के ताऊजी अखबार की एक खबर को लेकर मुझे सम्बोधित कर बोल उठे, "क्यों साहब, चीन के गृह युद्ध के बारे में आपका क्या विचार है? मेरा तो ख्याल है कि च्यांग-काई-शेक की हुकूमत अब आखिरी दमों पर है।"

"जी हाँ, मैं भी ऐसा ही सोचता हूं," मैंने संक्षिप्त-सा उत्तर दे दिया।

मगर इससे बात-चीत का सिलसिला शुरू हो गया। बातों-बातों में कुछ इस किस्म के प्रसंग भी आए कि हमारा परिचय हो गया। यह जानकर कि मैं पत्रकार हूं, सोमी के ताऊ जी बहुत प्रसन्न हुए थे।

हालांकि मैं उस समय ज्यादा बतियाने के मूड में नहीं था, पर फिर भी मुझे ताऊजी से बातें करनी पड़ी। मगर जैसे-तैसे घुमा-फिरा कर प्रसंग को जल्दी ही खतम कर दिया। वह चुप हो गए तो मैं पीठ टेक कर सोमी को कनखियों से निहारने लगा।

मैं सोच रहा था कि उसका जीवन जाने किस प्रकार का होगा। मगर उस उम्र और स्थिति की लड़कियों की बेशुमार किस्मों पर सोचने के बाद मेरे सोच के सूत बार-बार एक ही किस्म के कांटों से उलझ कर रह जाते।

निम्न मध्यवर्ग की सामान्य तौर पर लिखी-पढ़ी हिन्दू लड़की की अन्य किसी किस्म की कल्पना मैं नहीं कर सका और सोमी के रूप में मुझे एक कर्कशा गृहिणी और अनगिनत बच्चों की मां की मटमैली सी तस्वीर नजर आने लगी।

मुझे सोमी की ज़िंदगी झाड़ू-बुहार और चूल्हे चक्की की धुरी के गिर्द घूमती हुई पृथ्वी सी दिखाई देने लगी, जो जाने कब से इसी एंगल पर घूम रही है और शायद अनन्तकाल तक उसकी धुरी का एंगल नहीं बदलेगा।

तब कल्पना ही कल्पना में मुझे जूठे बर्तनों की खड़खड़ाहट सुनाई देने लगी; मैले कपड़े धोने की थापें गूंज उठीं और साबुन की झाग के गंदे छींटे उड़-उड़ कर सादी सफेद साड़ी पर छिटकते हुए दिखाई पड़ने लगे।

और फिर थोड़ी ही देर बाद उसकी साड़ी पर मुझे हल्दी के पीले दाग उभरते हुये दिखाई दिये; पके हुए खाने की बसांध रेल के पूरे कम्पार्टमेंट में फैलती हुई महसूस होने लगी।

इसी बीच वह एक बार उठकर मेरे पास से गुजरी। मैं ऐसे स्थान पर बैठा था जहां से लम्बा सफर करने वालों को दो-एक बार गुजरना ही पड़ता है। लौटती बार मेरे पास से गुजरते समय उसका शरीर मुझसे छू भी गया था। उस अनायास के स्पर्श ने मुझे झुरझुरा दिया।

और फिर जब वह फिरसे अपनी जगह पर जाकर बैठ गई तब उसकी लज्जा-भरी आंखों में मुझे ठीक वैसा ही सपना गोते खाता हुआ नजर आया जैसा कि लगभग हर भारतीय लड़की की इस उम्र की

आँखों में डूबता-उतराता रहता है और कभी तैर कर पार नहीं लगता।

इतने में गाड़ी गाजियाबाद के स्टेशन पर जा रुकी। कुछ लोग उतरे; कुछ चढ़े, शोर हुआ, और उस शोर में मेरी सोमी विषयक कल्पना का धागा टूट गया।

अब मैं ज़रा संयमित होकर बैठ गया और नवागंतुकों को देखने लगा। एक अधेड़ उम्र की मध्य वर्ग की महिला अपने बच्चों के साथ हमारे डिब्बे में सवार हुई। और पीछे-पीछे चढ़ा एक कुली, जिसके सिर, कंधों और दोनों बाहों पर सामान था। पूरे गधे का बोझ लादे वह किसी तरह अपने शरीर को सम्हालता हुआ अन्दर घुसा और सामान को ऊपर वाली बर्थ पर जोड़ कर हाँफता हुआ पसीना पोंछने लगा। एक हाथ से उसने कमर को दबा कर दूसरा हाथ उस महिला की ओर फैला दिया, "अच्छा तो बीबी जी, गाड़ी छूटने वाली है अब।"

कुली का आशय समझ कर उस महिला ने अपने पर्स में से एक दुअन्नी निकाली और कुली की बढ़ी हुई हथेली पर रख दी। वह दुअन्नी कुली की हथेली पर आकर जैसे जल उठी हो और कुली उस जलन को गोया सह न सका हो, कुछ ऐसे ही भुने-स्वर में कुली कह उठा, "यह क्या बीबी जी !"

"सरकारी रेट क्या है ?" वह महिला तुनक पड़ी।

कुली से कोई उत्तर न बन पड़ा, उसने खीझ कर दुअन्नी भी लौटा दी और अपने कंधे दबाता हुआ गाड़ी से उतर गया।

मगर तभी एक बारीक सी आवाज़ डिब्बे में गूँज उठी, "ठहरो !"

कुली ठिठक गया।

'अपनी मजदूरी लेकर जाओ !"

मैंने देखा कि वह सोमी की आवाज़ थी। उस आवाज़ ने मुझे

चौंका दिया। रुका हुआ कुली और हैरान सी खडी महिला सोमी के मुंह की ओर तकने लगे।

'आप को इतना तो सोचना चाहिए बहिन जी, कि कितना बोझ उठाकर लाया है बेचारा? और आप, जैसे कि भीख के तौर पर एक दुअन्नी फेंक रही हैं, ऊपर से आप उस सरकारी रेट और कानून की आड़ लेती हैं, जो स्वयं शोषण की आधार-शिला पर खड़ा है!"

सोमी का यूं बीच में बोल पड़ना उस महिला को अखरा तो बहुत, परन्तु वह अपने गुस्से को पी गई, और इतने में क्योंकि गाड़ी भी हिल पड़ी थी, इसलिए मन मसोस कर उसने पर्स में से एक चवन्नी निकाली और कुली की ओर प्लेटफार्म पर फेंक दी।

सोमी के चरित्र के उस रूप ने मुझे एक विचित्र सी मन:स्थिति में कर दिया। दिल्ली से लेकर गाजियाबाद तक मैंने उसके बारे में जो-जो भी कल्पनाएं कर डाली थीं, अब एक-एक करके मन ही मन सारी दोहरा डालीं, पर उन उपमाओं में मुझे एक भी तो ऐसा उपमान नहीं मिल सका जिसका उपमेय सोमी हो सकती। इस रहस्य के उद्घाटन पर मैं स्वयं अपने अनुमानों पर लज्जित हो रहा था।

उस दिन तो मुझे मेरठ के स्टेशन पर सोमी से अलग होना पड़ा और परिचय के नाम पर जो कुछ पा सका वह सिर्फ यह कि वह दिल्ली के इंद्रप्रस्थ कालेज में पढ़ती है। मगर तीन महीने बाद सोमी एक लेख लेकर मेरे कार्यालय में आई।

सोमी का लेख मैंने पढ़ा। पसंद आया, शीर्षक था 'कला की नयी भूमिका'। लेख के अंत में यह शब्द थे कि 'कलाकार की आँखें अब कल्पना के आकाश की ओर उठकर लम्बी और ऊँची कुलाँचें नहीं मारती, बल्कि नीचे धरती पर टिक कर एक ऐसा कैमरा बन गई हैं जिसकी प्लेट पर जीवन का अक्स उभर आया है।'

उसके बाद सोमी हमारे अखबार में बराबर लिखने लगी थी।

अक्सर वह मुझसे मिलने भी आती।

सोमी से अब मेरी काफी घनिष्टता हो चली थी, बातें भी खुलकर होने लगी थीं।

अब मैं सोमी को देखता तो यूँ लगता जैसे कोई कविता कवि की कल्पना में जन्म ले रही हो या किसी कहानी की थीम जो कहानीकार के मस्तिष्क में पल रही हो, या फिर कोई रंगीन कल्पना जो मूर्तिकार की रूह में ढल रही हो। एक दिन बातों-बातों में मैंने सोमी से कहा, "सोमी, जब मैंने पहले-पहल तुम्हें गाड़ी में देखा था, तब मालूम है तुम्हारे बारे में क्या कल्पना की थी ?"

"पुरुष स्त्री के बारे में सिर्फ एक ही कल्पना कर सकता है। वही तुमने भी की होगी।" सोमी ने शरारती मुस्कान बिखेरते हुए कहा।

"नहीं सोमी।"

"तब, और क्या ?"

"मुझे उस समय जूठे बर्तनों की खड़खड़ाहट सुनाई दी थी और तुम्हारी साडी पर हल्दी के पीले दाग उभरते हुये दिखाई देने लगे थे।"

"फिर !"

"फिर, तुम्हें याद है तुम कुली की बात पर एक महिला से उलझ पड़ी थीं ?"

"हाँ हाँ, तो ?"

"बस, तभी उसी क्षण वह पीले दाग तुम्हारी साड़ी से उड़ गए थे।" मैंने गम्भीर स्वर में कह कर सोमी की ओर एक भरपूर दृष्टि डाल दी। सोमी उस निगाह के भार से दब-सी गई।

कुछ देर रुककर मैंने फिर कहा, "मेरा विश्वास है सोमी, कि तुम किसी न किसी दिन जरूर कुछ बनोगी।"

"क्या बनूँगी ?"

"एक बहुत बड़ी लेखिका या कुछ भी।"

"कुछ भी क्या ?"

"बस कुछ भी। कम से कम यह तो तय है कि तुम जूठे बर्तन मांजने और चूल्हा-चौका करने के लिए पैदा नहीं हुई हो।"

"तो क्या चूल्हा-चौका कोई बुरी चीज़ है ?" सोमी मुस्करा दी थी।

"बुरी नहीं है, पर एक उच्च व्यक्तित्व के सामने, एक ऊंचे मकसद के मुकाबले हल्की जरूर है। और तुम्हारे वजन को आंकते हुए उस हल्केपन की कल्पना भद्दी लगती है।"

और सोमी के गालों पर उस क्षण पलाश के फूल भूल गये थे।

मैंने अपनी बात को उठाते हुए फिर कहना शुरू किया, "तुम में वे सब अंकुर हैं सोमी, जिनका यदि ठीक प्रकार से सिंचन हो तो निश्चित रूप से अमरत्व के फूल खिल उठें।"

"ठीक प्रकार के सिंचन का मतलब ?"

"पुरुषार्थ के छींटे।"

और शायद तब सोमी को लगा था कि मैं कोई ज्योतिषी हूँ और उसका भविष्य बतला रहा हूँ।

सोमी भी सोचने लगी थी कि वह बहुत बड़ी लेखिका बनेगी या महान नेत्री बनेगी और मैंने भी अपने भविष्य की सुन्दर से सुन्दर कल्पनाएँ करने में कोई कसर न उठा रखी थी।

मगर क्योंकि कल्पना ही कल्पना करता रहा, इसलिए कल्पना का विषय बन कर रह गया हूँ।

कोरी कल्पना ही तो मालूम होती है यह बात कि बारह साल पहले का एक प्रगतिशील दैनिक का सम्पादक आज दिल्ली के रेलवे स्टेशन पर टिकट कलेक्टर के रूप में गेट पर खड़ा टिकटें इकट्ठी करता हुआ दिखाई दे।

खैर, तो आज मैं रेलवे में टिकट कलेक्टर हूँ। हाथ में टिकटें काटने का 'निपर' लिये गेट पर खड़ा रहता हूँ। दिन में शायद बीसियों बार कुली का रेट भी मुसाफिरों को बताना पड़ता है। कुली अपनी मजदूरी के लिए मुसाफिरों से तकरार करते हैं तो मुसाफिर मुझसे पूछने आते हैं, "क्यों बाबूजी, कुली का रेट क्या है ?"

'तीन आने।" मुझे कहना पड़ता है। ग्रामोफोन रिकार्ड की तरह मैं अपनी मर्जी से कुछ नहीं कह सकता। जो सुर भर दिए गए हैं, वही हर बार बजने पर निकलते हैं।

अपने आज के व्यक्तित्व के बारे में सोचता हूँ तो लगने लगता है गोया मैं सरकारी मशीन पर बज रहा, सरकारी सुरों से भरा हुआ एक 'हिज मास्टर्स वायस' रिकार्ड हूँ, और कुछ नहीं।

ड्यूटी पर खड़े-खड़े कई बार एक अजीब सी झुँझलाहट हो उठती है, हाथ में पकड़ा हुआ 'निपर' मुझे अपनी आत्मा पर बोझ मालूम होने लगता है। महसूस होने लगता है: जब तक यह निपर मेरे हाथ में रहेगा, मेरी रूह दबी रहेगी।

और फिर देखते ही देखते वही धातु का बना हुआ छटाँक भर का निपर मेरी उँगलियों में कसा मनों भारी हो उठता है। तब दिल में बड़े जोरों से एक चाह अँगड़ा उठती है कि निपर पटक कर भाग जाऊँ।

मगर फिर भी रोज़ ड्यूटी पर आता हूँ; वही निपर मेरे हाथ में होता है और वही हिज मास्टर्स वायस रिकार्ड बजने लगता है, जिसका ट्रेडमार्क है—भोंपू बजाता हुआ एक वफादार कुत्ता।

उस ट्रेडमार्क के रूप में अक्सर मुझे अपना चेहरा दिखाई पड़ता है। मगर मैं दुम हिला-हिला कर फिर फिर मालिक के कदमों में लोटने के सिवा कभी कुछ नहीं कर सका हूँ।

कल शाम की बात है। मैं थर्ड क्लास के गेट पर खड़ा टिकटें इकट्ठी कर रहा था। सैकड़ों मुसाफिर गुजर रहे थे। भीड़ जब छँट गई तब मेरे कानों में एक बारीक सी आवाज़ पड़ी, "क्यों साहब, कुली का रेट क्या है ?"

मैंने जरा गर्दन ऊपर उठाई तो सवाल करने वाली को देख कर चौंक उठा। उस समय मुझे अपने को छिपाने में रेल की वर्दी से बड़ी सहायता मिली। ओवर कोट के लम्बे कालर खड़े करके मैंने पी-कैप से पूरा माथा और आधा नाक तक ढका हुआ था।

मेरे पास ही खड़ी सवाल करने वाली औरत सोमी थी। अब वह बारह साल पहले वाली लड़की नहीं रही थी, एक पूरी औरत थी और दो बच्चों की माँ भी। मुश्किल से साल-साल भर का अंतर रहा होगा उन बच्चों की उम्र में। ●

आदिम गुहा

"अब तुम बड़े हो गए हो ना बेटा ?" रेणु से जब पांच बरस के पप्पू से यह प्रश्न किया तो पप्पू ने बड़े गर्वीले अंदाज़ में गरदन हिला कर अपना बड़प्पन स्वीकार लिया। मगर इस स्वीकृति के तुरंत ही बाद बड़े होने की जो सजा मां ने सुनाई तो पप्पू हठ में स्वीकार तो वह भी गया, पर इस स्वीकारने में उसका नाजुक अंतर कहीं गहरी तरेर खा गया।

"तो तुम आज से अलग सोया करो। अच्छा ! बड़े बच्चे माओं के साथ थोड़े ही सोया करते हैं।"

मां के इस कथन की पुष्टि पिता ने भी की। और पप्पू के चेहरे पर छा आयी कातरता के बावजूद अलगाव का प्रस्ताव पास कर दिया गया।

उस रात पप्पू का बिस्तर अलग कमरे में बिछाया गया। उसे लिटा-थपक कर रेणु ने लाइट ऑफ कर दी और बीच वाले दरवाज़े के रास्ते अपने कमरे में चली गयी।

"सो गया न ?" हरनाथ ने लेटे-लेटे ही पूछा।

रेणु ने मरी सी 'हां' कह दी और बत्ती बुझा कर अपने बिस्तर

पर जा पड़ी।

हरनाथ ने पूछा, "क्यों ?"

रेणु बोली, "कुछ नहीं।"

"मन न मानता हो तो ले आओ।"

"नहीं, ठीक है। आखिर कभी तो अलग सोना शुरू करता ही।"

उधर पप्पू ने मां के थपकने-दुलारने से उस समय आँखें तो मूंद ली थीं, मगर नींद काफी देर तक नहीं आ सकी। और जब आयी थी तो आधी रात को डर के चीख उठा।

रेणु भागी आयी। पूछा, "क्या हुआ, पप्पू ?"

पप्पू ने रोते-रोते कहा, "मम्मी ई ! डर लगता है।"

"हट ! पगला है ? इतना बड़ा हो कर डरता है ! छि: ! बहादुर बेटे कहीं डरा करते हैं ? सोजा, मेरे बेटे, आं···आं···आं···।" और रेणु पप्पू को थपकने लगी।

इस तरह पप्पू के बाल-मन पर बड़ेपन की पहली परत चढ़ी।

एक दिन स्कूल से लौटा तो घर पर ताला लगा मिला।

पड़ोसिन को ताली देकर रेणु कहीं गयी हुई थी। कह गयी थी कि पप्पू आये तो ताला खोल देना।

"खैर, तो ताला खोल दिया गया। पप्पू ने कंधे से लटका बस्ता निकाल कर रख दिया और मुँह लटका कर खाट पर बैठ गया।

बड़े जोर की भूख लगी हुई थी। काफी देर तक तो दबाए रहा। पर जब नहीं सही गयी तो रसोई में जा कर इधर-उधर टटोलने लगा। मीट-सेफ खोला तो उसमें डबल रोटी के दो सूखे हुए पीस मिले। वही खाने लगा। रूखा कौर गले में फंस गया तो भागा नल की ओर। पानी के सहारे पीस निगले और पेट में कुछ सहारा हुआ।

मीट-सेफ का पल्ला बंद करना भूल गया था। पीछे से बिल्ली गयी और उसमें पड़े दूध की छोटी कड़ाही उलट्टा दी। कुछ तो वह चाट गयी, बाकी का फर्श पर फैल-बिखर गया। और पता चला तब, जब हरनाथ दफ्तर से लौटा और आँगन में पड़ौस के बच्चों में खेलते हुए पप्पू की पुकार हुई। पप्पू सहमा हुआ पिता के सामने आया। पिता को क्रोध में भरे देखा तो थर-थर काँपने लगा।

"यह क्या है ?" हरनाथ ने रसोई की तरफ इशारा करके चीखते हुए पूछा।

पप्पू सहमा खड़ा देखता रहा। कोई उत्तर नहीं दे सका। हरनाथ ने एक जोरदार तमाचा उसके गाल पर जड़ दिया और कहने लगा, "इतने बड़े हो गए, कौड़ी की अकल नहीं।"

और उस तमाचे ने बड़ेपन की इतनी मोटी परत और चढ़ा दी थी कि जब रेणु घर लौटी तो पप्पू सिवाय बिसूरने के माँ से कुछ कह नहीं सका।

पप्पू अब एक साल और बड़ा हो चुका था। गरमियों की रात थी। खाटें आंगन में सरक आयी थीं। गरमियों में सोने के लिए आंगन या छत मिल जाना दिल्ली में एक लग्ज़री से कम नहीं। अच्छे-अच्छे परिवारों को यहां या तो रात-रात भर भभकारे छोड़ती पंखे की लू नुमा हवा से काम चलाना पड़ता है अथवा गलियों में खाटें निकालनी होती हैं। अप्रेल से सितम्बर तक के महीनों में दिल्ली की लगभग हर गली रात को खाटों से अटी-सटी मिलेगी। गली के दोनों ओर एक सिरे से दूसरे छोर तक बिछी खाटों की कतारें सामुदायिक शयनागारों का दृश्य उपस्थित करती हैं। इस प्रकार सामुदायिक रूप से ढके-उघड़े सोने की तो यहाँ प्रायः स्त्री-पुरुषों को आदत पड़ गयी

है, परन्तु फिर भी रात के थोड़े-बहुत क्षण अक्सर लोगो को अपने गरम कमरों में ही बिताने पड़ते हैं। क्योंकि उन क्षणों की जरूरत सामुदायिक शयनागारों की बेपर्दगी में पूरी नहीं हो सकती। और छतों या आँगनों में सोने वालों को भी ऐसी हाजत रफा करने के लिए बन्द कमरों में पनाह लेनी ही पड़ती है।

रात को प्यास लगी तो पप्पू की आँख खुल गयी। आँगन में इधर-उधर बिछी खाटो की ओर देखा: मम्मी और डैडी के बिस्तर खाली थे।

"मम्मी!" पप्पू ने पुकारा।

कहीं से कोई जवाब न आया। उसने दो-तीन बार जरा ऊंचे-ऊंचे आवाज दी तो बन्द कमरे के भीतर से मां का चिढ़ा स्वर सुनाई दिया, "क्या है?"

"पानी पीऊंगा, मम्मी!"

"तो चिल्ला क्यों रहा है? उठ के सुराही में से ले ले न!"

पप्पू अंधेरे में टटोलता-सा उठा। रसोई वाले कोने में स्टूल था। उस पर रखी सुराही और सुराही की गरदन पर औंधाया काँच का गिलास। उसने एक हाथ से गिलास हटाया और दूसरे से सुराही की गरदन पकड़ कर नीवाई। कुछ तो अन्धेरा कुछ नींद की शिथिलता: उसके नन्हें हाथ सुराही का झोल झेल न सके। सुराही और गिलास फर्श पर आ गिरे।

टूटने की आवाज सुन कर भीतर से रेणु भड़भड़ाती हुई निकली।

"मरे के हाथ टूट गए हैं। हर वक्त नुकसान पे नुकसान करता रहता है।" और इन शब्दों के साथ एक जोरदार घूँसा पप्पू की कनपटी पर आ पड़ा। वह वहीं का वहीं लड़खड़ा गिरा। और फिर पड़ा-पड़ा जब रोने लगा तो अन्दर से हरनाथ की आवाज आयी, "अबे चुप कर! क्यों सबको नींद हराम कर रहा है?"

रेणु भीतर लौट गयी थी। मगर उसकी बड़बड़ाहट पप्पू तक पहुँचती रही, "इस कमबख्त को जाने कब होश आएगी !"

माँ के इस उलाहने ने कनपटी की चोट भी भुला दी और पप्पू ने उस रात अपने को और भी बड़ा हो गया महसूस किया।

इस बीच उसका एक और भाई पैदा हो चुका था। डैडी-मम्मी जब-जब छोटे को गोद में ले कर चूमते नज़र आते, तब-तब पप्पू के भीतर का बालक कुछ और दूर सरक जाता। और उसे अपने डैडी की याद छू-छेड़ जाती।

एक रात की बात है : पप्पू अपने बिस्तर में लेटा हुआ था। अन्दर कमरे में मम्मी छोटे को दूध पिला रही थी। हरनाथ की आवाज सुनाई पड़ी, "पप्पू पढ़ाई में कैसा है ?"

रेणु ने कहा, "ठीक ही है।"

"एक सलाह है।"

"क्या ?"

"अगर मुनासिब समझो, तो गुरुकुल में दाखिल करवा दें। वहां ठीक से देख-रेख भी रहेगी, पढ़ाई भी अच्छी तरह से कर सकेगा। और फिर अब तुम दो-दो बच्चों को ढंग से सम्हाल भी तो नहीं पातीं।"

रेणु ने कोई जवाब नहीं दिया। पप्पू की समझ में विशेष कुछ तो आया नहीं। डैडी उसे कहीं भेजने की बात कह रहे हैं, इतना ही समझ सका।

और उस रात पप्पू को अपने डैडी की याद बहुत आयी। मन हुआ कि उठ कर मम्मी से कहे भी। मगर डर के मारे रात को मम्मी के कमरे में जाने की हिम्मत नहीं हुई। रात को अकेले में हड़बड़ा कर नींद टूट जाने की स्थिति में वह पहले भी जब-जब वहाँ गया था तब-तब मम्मी और डैडा की डांट सुननी पड़ी थी।

इस नये मकान में आने से पहले तक पप्पू माँ के साथ सोया करता था। अब अकेले सोने की तो, खैर, आदत कुछ-कुछ पड़ ही चली थी, पर वह हर दम आतंकित और सहमा-सहमा सा रहने लगा था। सोचता रहता : वही मम्मी थी जिसके सामने कुछ भी कह दिया करता था और कभी डांट फटकार नहीं सुनी थी। अब भी वही मम्मी है, मगर कुछ कहने का साहस नहीं होता...

....पहले डैडी थे : कितना प्यार करते थे ! अच्छे-अच्छे खिलौने ला कर देते थे, टाफी-चाकलेट दिलवाते थे। मुझे कोई कुछ कहता था तो उल्टे उसी को गुस्सा होते थे।

...और एक यह नये डैडी हैं। हरदम गुस्सा ही होते रहते हैं। कभी भी तो प्यार नहीं करते। टाफी-चाकलेट भी तो ला के नहीं देते !

पप्पू उस रात घण्टों उसी उलझन में पड़ा रहा। उसकी नन्हीं-सी समझ में कुछ नहीं आ पाया कि यह क्या गड़बड़ है। मम्मी ने बताया था कि पहले डैडी की हम से कुट्टी हो गयी है इसलिए अब हम नये घर में चलेंगे। फिर नये घर में आया तो मम्मी ने बताया था कि अब यह ही डैडी हैं। इन्हें डैडी कहा करो। और उसने कहना शुरू कर दिया।

पर साल भर की अवधि में पप्पू ने उस नये घर और नये डैडी के साथ-साथ पुरानी मम्मी का भी जो नया रूप देखा, उससे उसके ना-समझ मन में अजब-अजब सवाल खड़े होने लगे थे। और उन सवालों ने उस मासूम के सहजरूप में विकसित होते हुए बचपन को जकड़-बाँध कर बड़ी तेज़ी के साथ एक विचित्र से 'बड़ेपन' की भयावनी चोटियों पर उछाल-फेंका था। उन चोटियों पर खड़ा उस बालक का व्यक्तित्व अपने चारों ओर का अनबूझ गहराइयों में झाँक-झाँक कर डर-सहम गया था।

रेणु और उसके पहले पति सब्बरवाल ने जब परस्पर रजामंदी से तलाक लिया था तब रेणु की इच्छा पर पप्पू उसके पास रहने दिया गया था। तब पप्पू मासूम था और रेणु कमाती भी थी।

सब्बरवाल ने भी दूसरी शादी कर ली थी। पप्पू का अभाव उसे अधिक दिनों तक नहीं खला। नई पत्नी ने जल्दी ही सारे सूने कौने ढक-पुर दिये थे।

परन्तु इधर कई दिनों से पप्पू अपने डैडी से मिलने की ज़िद करने लगा था। हालांकि इस बात पर कई बार पिट भी चुका था, पर ज़िद फिर भी नहीं छोड़ी थी।

एक दिन जोर का बुखार आ गया। बुखार की बेहोशी में भी बड़बड़ाता रहा, "डैडी के पास ले चलो, मम्मी!"

रेणु को उस दिन गुस्सा नहीं आया। आंखें भर आयीं। हरनाथ से सलाह की। उसने भी हामी भर दी। आखिर तय हुआ कि सब्बर-वाल को बुलाया जाय।

रेणु ने सब्बरवाल के दफ्तर में फोन मिलाया। सब्बरवाल रेणु का फोन पा कर कुछ अनईज़ी-सा हो आया।

"पप्पू की हालत बहुत सीरियस है। बेहोशी में भी आपको बुलाता है। आज आफिस के बाद इधर आ सकेंगे?" रेणु जल्दी-जल्दी कह गयी।

"हाँ-हाँ, मगर कहाँ? तुम्हारा पता क्या है?"

"करोल बाग। नोट कर लीजिए।" और फिर रेणु ने फोन पर ही अपना मकान नम्बर और गली-मुहल्ला नोट करवा दिया।

शाम को छः बजे के करीब घर ढूंढ़ता हुआ सब्बरवाल रेणु के मकान पर आ पहुँचा। पप्पू की हालत देख कर मन भर आया। कुछ देर तक तो बेहोश पड़े बेटे को खामोश ही बैठा देखता रहा, फिर अपने पास खड़ी रेणु को सम्बोधित कर कहने लगा, "क्या सोचा फिर?"

"किस बारे में ?" रेणु ने प्रतिप्रश्न किया।

सब्बरवाल तुरन्त बात बदल गया, "मेरा मतलब है...किसी डाक्टर को...।"

"दिखाया था, दवा चल रही है।" रेणु शब्द चबाती हुई कह गयी।

"मगर मुझे लगता है कि···" सब्बरवाल इतना कह कर थोड़ा रुक गया। रेणु ने इस बीच प्रश्नसूचक दृष्टि से उसे देखा तो वह शब्द ढूँढ़ता-सा कहने लगा, "यही···कि···" और फिर गोया झट से कुछ उगल दिया हो, कह गया, "इसका मन शायद नहीं लगा।"

रेणु खामोश रही। कुछ लेने के बहाने दूसरे कमरे में चली गयी। हरनाथ और सब्बरवाल पप्पू वाले कमरे में ही एक दूसरे से आँखें चुराते से बैठे रहे। उन दोनों के पास परस्पर बात करने को तो कुछ था नहीं। पप्पू की बीमारी को लेकर ही दो-एक मामूली-सी बातें हुईं। डाक्टर ने दोपहर को जो दवा दी थी, उससे उसे नींद आ चुकी थी। उसे जगाना मुनासिब न समझ कर सब्बरवाल सिर्फ उसे देखता बैठा रहा।

करीब घंटे भर बाद पप्पू ने करवट ली और उसके मुँह से अस्पष्ट से कुछ शब्द चू आये, जिनमें डैडी शब्द सुन कर सब्बरवाल ने उसके माथे पर हाथ रख दिया और फिर धीमे से पुकारा, "पप्पू !"

पप्पू ने आँखें खोल दीं और बिटर-बिटर तकने लगा। सब्बरवाल ने फिर जरा भर्राई हुई आवाज में कहा, "देखो बेटे, हम आ गए।"

पप्पू अपलक निहारता रहा। बोला कुछ नहीं। रेणु ने भी कहा, "पप्पू, देखो तो कौन आये हैं ?"

पप्पू ने फिर भी कुछ नहीं कहा। कुछ देर तक खाली-खाली नज़रों से देखते रहने के बाद धीरे-धीरे पलक मूँद लिये। उसके सो जाने के काफी देर बाद तक सब्बरवाल वहाँ बैठा रहा। फिर अगले

दिन आने को कह कर उठ खड़ा हुआ। हरनाथ उसे गुरुद्वारा रोड के बसस्टाप तक छोड़ने गया। बात रास्ते-भर कोई न हो सकी। विदा होते वक्त औपचारिक अभिवादन जरूर हुआ।

अगले दिन शाम को सब्बरवाल फिर आया। पप्पू का बुखार तो आज उतरा हुआ था मगर कमजोरी बहुत थी। डैडी को देखते ही चिल्ला-सा उठा, 'डैडी !" और साथ ही अपनी छोटी-छोटी बाहें फैला दीं।

सब्बरवाल खाट की पाटी पर ही टिक गया और झुक कर पप्पू को चूम लिया। पप्पू ने अपनी दानों बाहें डैडी के गले में डाल दीं और फफक-फफक कर रोने लगा।

सब्बरवाल ने उसे अपनी गोद में सरका लिया और उसके गाल पर प्यार भरी थपकियाँ दे कर कहने लगा, "हट, पगला कहीं का। इत्ते बड़े होकर रोते हो ! शेम-शेम।"

और तब जाने क्यों पप्पू को वाकई शेम महसूस होने लगी। और लगा कि उस पर चढ़े बड़ेपन के पलस्तर की तह को डैडी ने थपक-थपक कर जमा दिया है।

उस दिन के बाद से रेणु ने पप्पू की खाट फिर से अपने कमरे में बिछानी शुरू कर दी। धीरे-धीरे वह बिल्कुल स्वस्थ भी हो चला।

नवम्बर का महीना था। दिन बहुत छोटे हो गए थे। रात को भी जल्दी ही बिस्तर बिछ जाते। गली में खुलने वाली खिड़की की तरफ हरनाथ का पलंग था। रेणु और पप्पू की खाटें समानांतर

पड़ती थीं।

एक रात हरनाथ अपने बिस्तर में लेटा-लेटा कोई किताब पढ़ रहा था। रेणु पप्पू को सुला कर अपनी खाट पर छोटे मुन्ने के साथ बैठती हुई कहने लगी, "अब तो पप्पू रात भर चैन से सोया रहता है। वरना दो-एक बार डर के उठता ही था।"

हरनाथ ने किताब पर नजर गड़ाए-गड़ाए ही कह दिया, "हूँ।"

फिर रेणु को अचानक कुछ याद आया। बोली, "कल जरा इसके स्कूल तो हो आना।"

"क्यों, क्या बात है?"

"यूं ही जरा बच्चे के टीचर से कभी-कभी मिलते रहना अच्छा होता है। प्रोग्रेस का भी पता चलता है और मास्टर लोग भी जरा ध्यान रखते हैं।"

"अच्छा", हरनाथ ने संक्षेप में उत्तर दे दिया।

फिर काफी देर तक चुप्पी रही। रेणु को खल गयी। हाथ बढ़ा कर पति के हाथों से किताब ले कर बन्द करती हुई कहने लगी, "अब छोड़ो भी, कुछ बात करो न।"

हरनाथ ने जरा अनईजी स्वर में कहा, "कर तो रहा हूँ।"

"कहाँ कर रहे हो?" रेणु ने जरा मान-भरे लटकते स्वर में कहा और कहती-कहती उठ कर हरनाथ की खाट पर आ बैठी।

"हं-हं-हं, क्या करती हो?"

"क्या करती हूँ?" उसी स्वर में कह कर रेणु एक हाथ के सहारे सिर टिका कर अधलेटी-सी हो आयी।

'देखो, अपनी खाट पर जाओ! पप्पू जग पड़ेगा तो क्या सोचेगा?"

बात के शब्दों में तो असामान्य कुछ नहीं था, पर हरनाथ के कहने

का ढंग कुछ ऐसा था कि रेणु को बींध गया और वह चुपके से उठ कर अपने बिस्तर में जा लेटी।

एक दिन शाम को हरनाथ घर लौटा तो देखा: कोने वाली टेबल पर से रेडियो गायब है। रेणु से पूछा, "रेडियो क्या हुआ ?"

वह बोली, "मरम्मत के लिए दिया है।"

"क्यों ?"

"गिर गया था।"

"कैसे ?"

"सफाई करते समय," रेणु ने संक्षिप्त-सा उत्तर दे कर बात टाल दी। हरनाथ भी चुप रहा। पर असल में रेडियो गिरा था पप्पू से।

थोड़े दिन बाद की घटना है कि हरनाथ की मौजूदगी में ही मेंटल-पीस पर पड़ी प्लास्टर-आव-पैरिस की एक बहुत अच्छी और कीमती बुद्ध-प्रतिमा पप्पू के हाथों गिर कर टूट गयी। हरनाथ पप्पू पर बरस पड़ा और गुस्से में जाने क्या-क्या कह गया। दो-चार चपत-घूँसे भी लगा दिये। रेणु बीच में न आ गयी होती तो ठांव-कुठांव कहीं गहरी चोट अवश्य लग जाती।

फिर बाकी का गुस्सा झड़ा रेणु पर, "तुम्हारे प्यार ने ही इस नालायक को बिगाड़ा है। इतना बड़ा हो गया है, रत्ती-भर भी अक्ल है इसे ?"

उसी शाम रेणु को भी इस बात का स्पष्ट आभास मिला कि हरनाथ के भीतर का सभ्य व्यक्ति क्यों कर अपनी तहज़ीब की केंचुल झटक बैठा है ? पति की आदिम-स्पृहा की माँग ने गोया रेणु के भीतर की नारी को बोली मार कर सचेत कर दिया। और उसकी मादा को अपने नर के मोल पप्पू बहुत महंगा लग उठा।

और फिर हुआ यह कि उसी रात पप्पू की खाट फिर से दूसरे कमरे में डाल दी गयी। रेणु उसे लिटा कर पति के कमरे में चली गयी। बीच का दरवाजा बन्द हो गया। बत्ती बुझा दी गयी।

मम्मी के कमरे के मुंदे द्वारों को कातर दृष्टि से निहारता हुआ पप्पू रात भर सहमा-सा लेटा रहा। 'बड़ेपन' की चढ़ी परतों को चीर कर पप्पू का शैशव उस रात पहली बार जो उभरा तो बुरी तरह छिल गया। और वह निरीह श्वेतकेतु की तरह पड़ा-पड़ा अपने मन में शायद उस आदिम नारी से प्रश्न करता रहा, जो अपने बच्चे को अवहेलित छोड़ कर किसी और नर के साथ 'आदिम-गुहा' में चली गयी थी !

तीसरी पीढ़ी

"नर्वस ब्रेकडाउन !!!"

"हाँ, मगर घबराने की कोई बात नहीं है। अटैक खास सीरियस नहीं। उम्मीद है, जल्दी ठीक हो जाएंगे। यह नुस्खा मैंने लिख दिया है। दवा बराबर देते रहिए। अच्छी खुराक, मुकम्मिल आराम और बेफिक्री मरीज के लिए बहुत जरूरी हैं। और जरूरत पड़े तो मुझे फिर खबर दीजिएगा।"

डाक्टर को दस रुपये फीस दे कर विदा किया और नुस्खे में लिखी दवा बाजार से लेने चल दिया। दस का एक नोट और मेरी जेब में था, मगर दवा की कीमत थी बीस। लौट आया।

नुस्खा मेरे हाथ में था। निगाहें, अमला की कलाई पर बची आखिरी चूड़ी पर।

अमला मुझे इशारे से बुला कर रसोईघर में ले गयी थी। पिता जी के पैताने बैठा सुरेन्द्र उस इशारे को भांप न सका, यही अच्छा हुआ। पिता जी दीवार की ओर करवट लिए थे और उनका सिर दबाती हुई माता जी की पीठ हमारी ओर थी। बिट्टू स्कूल गया हुआ था।

श्रौर फिर जब मैं रसोईघर से निकला था तो मेरी पैंट की एक जेब में डाक्टर का नुस्खा था श्रौर दूसरी में पत्नी की आखिरी चूड़ी।

अब मैं बाज़ार में चला जा रहा हूँ।

काफी तेज़ कदमों चल रहा हूँ श्रौर उतनी ही रफ़्तार से सड़क पीछे को चलती-सी लग रही है।

पीछे को ! हाँ बहुत पीछे। पर याद नहीं बहुत पीछे क्या था ? याददाश्त बहुत कमजोर है। यह अच्छा है, नहीं तो आगे चलना मुश्किल हो जाता।

कुछ ही पीछे की धुंधली-सी स्मृति सरक आई है। श्रौर अब, चल नहीं, रेंग-सा रहा हूँ।

श्रौर रेंग आई है एक याद : जब मेरे दादा जी बीमार थे श्रौर मैंने स्कूल से लौट कर माता जी की कलाई सूनी देखकर पूछा था, "माँ, तुम्हारी चूड़ियाँ क्या हुईं ?"

तब माता जी ने कहा था कि पालिश करवाने भेजी हैं।

मगर अपने घर की वास्तविक स्थिति का 'पालिश' मेरी आंखों के सामने उस समय उखड़ा-खुरा था जब मैट्रिक के बाद कालिज का दाखिला भरने तक भी माँ की चूड़ियाँ पालिश होकर नहीं लौटी थीं श्रौर तब मुझे कालिज में भर्ती होने की बजाय पिताजी के ही बैंक में भर्ती होना पड़ा था।

मेरा छोटा भाई सुरेन्द्र, तब गोद में था।

आज वह कॉलिज में है। बी० एस० सी० का अन्तिम वर्ष है।

छोटा-सा मकान जो इस बीच कर्ज लेकर बन पाया था, कर्ज

चुकाने में ही बिक-चुक गया है। चाँदी के कुछ-एक बर्तन जो छोटी बहिन के दहेज में देने की साध से माँ ने जुटाए थे, वे भी ठिकाने लग चुके हैं और पत्नी की आखिरी चूड़ी भी आज मैं 'पालिश' करवाने ले आया हूँ।

कर्ज की रकमें सूजती चली जा रही हैं। सुरेन्द्र की फीस समस्या बन आयी है और पिताजी को नर्वस ब्रेकडाउन है।

नर्वस-ब्रेकडाउन, यानि स्नायुओं की खींच का टूट की सीमा-रेखा को लाँघ जाना।

जीना जरूरी है तो जीते रहने के लिए कुछ जरूरतें भी जरूरी हैं और उनके खाते में देते रहने के लिए उतना ही पाते रहना भी जरूरी है। अन्यथा सीमाएँ लाँघ जाना भी जरूरी हो जाता है। और तब मस्तिष्क की नसों का तनाव बढ़ता-बढ़ता ब्रेकिंग प्वाइंट पर आ जाना भी अनिवार्य ही है। डाक्टर का नुस्खा और हिदायतें तो उपचार से अधिक औपचारिकताएँ हैं, 'फार्मेलिटीज़' हैं।

फार्मेलिटीज़ निबाहता है डाक्टर, ताकि मरीज कहीं निराश न हो जाए; फार्मेलिटी निबाहती है माँ, कि बेटे का दिल न दुखे।

नैसर्गिकता पर फार्मेलिटी की पालिश करते ही तो जिंदगी बीत रही है। पिताजी के दिमाग की रगों को स्वाभाविक ढील नहीं मिली तो सूखे पत्तों की तरह चड़चड़ा आई हैं।

डाक्टर का नुस्खा इन चड़चड़ाए हुए बिखरे पत्तों को हरियाली दे सकेगा, ऐसे जादू में विश्वास नहीं। मगर दवा तो लानी ही है। यह फार्मेलिटी भी निबाहनी ही होगी।

डाक्टर हिदायत कर गया है—अच्छी खुराक, मुकम्मिल आराम और बेफिक्री मरीज के लिए जरूरी है। अपने कोर्स की किताबों में उसने पढ़ा था और अब उगलता फिर रहा है।

बेफिक्री से टहलता और पत्नी को टहलाता सामने दिख पड़ा है,

मेरे दफ्तर का चपरासी रामभरोसे। सोचता हूँ, रास्ता काट जाऊं, निगाह चुरा निकलूं, सामना टाल जाऊं। पर रामभरोसे ने एक लम्बी नमस्ते टिका दो है और सामना टल नहीं सका है।

राम भरोसे की पत्नी सिमटी, सकुचाई-सी उसकी आड़ लेकर खड़ी हो गई है। वह पूरब के देहात की युवती है। सांवली, स्वस्थ, खुले खिले डील-डौल पर रेखाएं उभारती सादी-सी रंगीन सूती साड़ी। गहनों के नाम पर मोटे कांच की चार-चार चूड़ियाँ, जो साड़ी के सरके पल्लू को सवारते हुए खनक उठी हैं।

"का बाबू जी घूमें निकलत हैं ?"

"नहीं राम भरोसे, यूं ही जरा कुछ जेवर-एवर खरीदना था। तुम जानो, दिन भर तो बैंक से फुरसत मिलती नहीं।"

और अब मेरे दाएं हाथ ने पेंट की जेब में पड़े-पड़े ही चूड़ी को मसलना शुरू कर दिया है। बड़े जोरों से चाह उठा हूँ कि मसल-मसल कर इसका सारा 'पालिश' उतार डालूं और फूट बहूं राम भरोसे के सामने, नंगा हो जाऊं, अपने पालिश के खोल को नोच-फेंक दूं।

राम भरोसे की पत्नी की कांच की चूड़ियां फिर खनक उठी हैं। पूरी आवाज से खुल कर खनक पैदा कर सकने के लिए अनावरित हैं, मुक्त हैं।

राम भरोसे ने फिर एक लंबी नमस्ते टिका दी है और झूमता हुआ अपनी पत्नी को साथ ले आगे बढ़ गया है। उसके स्नायुओं में कोई तनाव नहीं है। जो, जैसे, जिस रूप में है, वह उसे, उसी रूप में ले लेता है। क्षण में जीता है। गए का गम और अन आए की चिंता से मुक्त, दिखाने के मोह से आजाद। कोई मुलम्मा ओढ़ने की उसने कभी जरूरत महसूस नहीं की। न पालिश का ढोंग न टूटन की पीड़ा। जो पाता है अपनी सीमित-सी जरूरतों के खाते में दे देता है। लम्बे सपने नहीं पालता। जरूरतें सीमा में हैं। दिमाग की रगों पर कोई बोझ

नहीं। खींच कभी ब्रेकिंग-व्हाइंट को लांघ नहीं पाती। कई पीढ़ियों की बेफिक्री उसे मिली है।

पीढ़ियों की विरासत इधर भी हैं। पर विरसे में पीढ़ी-दर-पीढ़ी मिला है चिताओं का 'बैंक-बैलेंस' ही, जो दिनोदिन सूद-दर-सूद के हिसाब से फैलता-फूलता जा रहा है। इस बैंक में चैक-बुकें तो इशू ही नहीं होतीं कि कुछ काटा, निकाला या घटाया जा सके। जमा कराने वाली स्लिपें ही होतीं हैं।

ज्यादा लंबी याद नहीं। दादा की मौत की थोड़ी बहुत होश है। पिता जी का भविष्य बनाने के सपने देखने में अपना वर्तमान बिगाड़ बैठे थे। दुनियादारी निबाहते-निबाहते अपनी दुनिया तबाह कर चुके थे।

मगर न तो पिता जी का भविष्य बन पाया, न दुनियादारी ही निभ सकी। विरासत में जो छोड़ मरे वह यही, कि पिताजी भी जीवन भर अपनी 'नाक' रखने के नाम पर दिमाग की नसों पर बोझिल पत्थर लादते रहे, और आज टूट रहे हैं।

हम दोनों बाप-बेटा मिलकर सारी जिंदगी की कमाई से इतना भी नहीं जुटा पाए हैं कि आज दवा-दारू को बीस रुपए घर से निकल आते। मगर मेरी शादी में धूम-धाम जरूरी थी। कर्ज लेकर भी जेवर-कपड़े और बिरादरी भर को भोज अनिवार्य था। नहीं तो नाक कैसे रहती ?

कर्ज लेकर आई हुई वस्तुएं कर्ज वापिस देने में ही चली गई। मर्ज़ जो दे गई वह लाहे का।

अब तीन बच्चे मेरे हैं, बच्चों की माँ है, छोटे भाई-बहिन और माता-पिता सहित आठ प्राणियों का भरापूरा परिवार है। हम दोनों की कुल कमाई इतनी भी नहीं कि एक मियाँ-बीवी को भी पूरी पड़ सके।

बात उठायी थी अमला की नौकरी की तो घर में तूफान उठ खड़ा हुआ था। इज़्ज़तदार घर की बहू दफ्तर या स्कूल में नौकरी कैसे कर सकती थी। गोया श्रम बेचना और इज्जत बेचना पर्यायवाची हों।

और फिर ये आए दिन के तीज-त्योहार, रिश्तेदारी में शादी-ब्याह, मरना-जीना, आना-जाना, लेना-देना तो खैर लगा ही रहता है। इन सब में भी किसी से पीछे रहना भला क्यों कर बन पड़े!

मगर यह सब मैं क्या बहक रहा हूँ। पिता जी को नर्वस-ब्रेकडाउन हो गया है। इस की जड़ में यही सब तो नहीं। कुछ और भी है। वह घुटन भी है जो सड़-टूट जाने देती है, खुलने-उघड़ने नहीं देती।

पिताजी ने कभी भी अपनी असलीयत हम दोनों भाइयों तक उघड़ने नहीं दी। मुझ तक तो अपने आप ही कुछ खुल भी आई थी। सुरेन्द्र को अब तक पता नहीं होने दिया गया कि 'पालिश' के नीचे क्या है। वह अपने को सम्पन्न परिवार का कॉलेजएट समझने का भ्रम ओढ़े हुए है। ठीक है, इससे कच्चे मन पर कुप्रभाव पड़ने से बचा रहता है और मानसिक विकास अवरुद्ध नहीं होने पाता। मगर जिस दिन यह नग्नता उजागर होती है उस दिन का शॉक भी जड़ें हिलाकर रख देता है। और फिर सम्पन्नता का भ्रम पैदा करने में पिता जी को घुटन की जो भाप अपने में पी-पचानी पड़ी, वही तो आज केतली का ढक्कन उछाल बैठी है।

दिन छिपे घर से चला था और अब रात गहरा चली है।
और अभी तक मैं सिर्फ सर्राफ की दुकान से ही निपट सका हूँ।
कैमिस्ट की दुकान कहीं बन्द न हो जाए। दवा न मिल सकी तो...

पर दवा तो लेनी ही होगी। दुआ की नौबत नहीं आने दूंगा।

फुर्ती से लपकता-सा चलने लगा हूँ। पता नहीं जीवन अब कैसे चलेगा ! पिता जी के बाद...

शाम को अटैक की स्थिति में पिता जी फूट बहे थे—"मेरे बाद घबरा मत जाना। हिम्मत से काम लेना, बेटा !"

और मुझे हिम्मत बंधाते-बंधाते अपने जब्त का बांध तोड़ बैठे थे।

मैं घबराया नहीं हूं। कहाँ घबराया हूं मैं ? अमला की आखरी चूड़ी तक बेच कर दवा लिए जा रहा हूं। बिट्टू स्कूल से लौट आया होगा। वह अब काफी समझदार हो गया है। इसे यह सब पता नहीं चलना चाहिए। टेस खा जाएगा। 'पालिश' वाली बात ही ठीक है।

बिजली की रोशनियों से चमकते बाज़ार को छोड़ अब अपनी अंधेरी गली में आ गया हूँ।

गली के इस अंधेरे में ही मुझे कुछ क्षणों को लग आया है कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ...मुझे नर्वस ब्रेकडाउन का अटैक हुआ है...मेरा बिट्टू मेरी उम्र में आ चुका है...और वह अपनी 'अमला' की आखरी चूड़ी को 'पालिश' करने दे आया है...गली में अन्धेरा है...गली तंग है...वह लपका जा रहा है...उस की 'अमला' और उस का बिट्टू घर की देहलीज में खड़े हैं...मैं भीतर पड़ा हूँ...नर्वस ब्रेकडाउन हुआ है...व्यथा के निचले ओठ पर जब्त के अगले दांत खुभ आए हैं और कह उठा हूँ—'मेरे बाद घबराना नहीं। हिम्मत से काम लेना, बेटा !" ●

मेहमान

ठक-ठक, ठक ठक....!

"यह कौन बद्तमीज़ दरवाजा पीटे जा रहा है ?" मेरी पत्नी ने दरवाजा खोलने के लिए जाते हुए कुछ स्वगत-भाषण के-से अंदाज में प्रश्न किया। मगर बद्तमीज़ी का वह उलहना भी सारी तमीज़ भूल कर दिया गया था।

स्वर तो हमारी मेम साहब का वैसे भी पंचम से कम निकलता ही नहीं पर गुस्सा तो गोया माइक्रोफ़ोन का काम कर जाता है।

सब कुछ सुनकर भी ठक-ठक बदस्तूर जारी रही तो मैं समझ गया कि कौन हो सकता है। और मैंने श्रीमती जी को बतला भी दिया। मगर मेरे खरज के स्वर उस पंचम के आलाप में डूब गये और उन्होंने 'न सुना' पोज़ करके दूसरा कमरा लांघते-लांघते भी दो-चार लच्छेदार उपनाम आगन्तुक को देकर साहित्यिक की बीवी होने का परिचय दे ही डाला और मेरे मित्र के प्रति अपने उद्गार भी निकाल लिये।

"अबे ओ 'टालर दि फूलर', कुछ सुना तूने ?" भीष्म ने दरवाजा खुलते ही ऊँची आवाज में मुझ तक लपक कर आते हुए कहा।

पहले ही डायलॉग से जब एकांकी का प्लाट और क्लाइमेक्स पकड़ गया तो मैंने इत्मीनान की सांस लेते हुए उसे बैठ जाने का इशारा किया और सिगरेट सुलगा कर लापरवाही से पैकट सामने मेज़ पर फेंक दिया।

"यार तुम बड़े क्लोरोफ़ार्म किस्म के आदमी हो। पूछा भी नहीं क्या हुआ?" भीष्म ने कुर्सी की बजाय मेरे पलंग पर बैठते हुए मेज़ पर से सिगरेट का पैकट उठा लिया।

"पूछूं तो तब जब बिना पूछे पता न लग सके।"

"तो गोया हम आर्य-समाज के प्रचारक हैं!" और उसने मेरे हाथ से जलती हुई सिगरेट छीन कर अपनी सिगरेट सुलगा ली।

"अरे भई सुनती हो!!"

"क्या है???"—रसोई घर में से जो आवाज आई वह जली हुई रोटी की गंध लिए हुए थी।

"जरा चाय-वाय का कुछ डौल..."

"स्टोव में तेल नहीं है। जा कर ला दो, बना दूंगी।"

और बस हमारी मूड का कबाब बन गया। मन में तो आया कि कह दूं—'स्टोव के पास मुंह कर के दो-चार गरमा-गरम डायलॉग बोल दो, चाय लायक ताव तो स्टोप में आ ही जायगा'—मगर एक तो बदमज़गी बढ़ाने को मन न हुआ, दूसरे भीष्म मुझे इशारे से मना कर के जरा ऊंची आवाज़ में कह उठा—"रहने दो भाभी, चाय की जरूरत नहीं है। हम लोग एक पार्टी में जा रहे हैं, रात को इसका खाना भी वहीं है। हमारा एक दोस्त शादी करवा के लौटा है। दावत दी है उसने। रात को शायद कुछ देर हो जाय।"

और फिर अपने नाटक की टोन को क़ायम रखते हुए उसने मुझसे जल्दी-जल्दी कपड़े पहनने को कहा और साथ ही अपनी भाभी के कानों तक पहुंच सकने लायक स्वर में बोला, 'अरे हां यार, कुछ प्रेजेंट-प्रेजेंट भी तो देना होगा न! दस-एक की तो चपत यह भी लगेगी ही। इससे

कम का भला आयेगा ही क्या ?"

मैं दस के नोट की ग्रांट की मांग 'बजट सैशन' में पेश कर सकूं, इस काबिल बैक-ग्राउंड तो भाई ने बना ही दी थी। इसलिए थोड़ी बहुत, पर गरम बहस के उपरान्त मांग पास हो गयी।

हम दोनों घर से बाहर निकले तो मेरी जेब में हाथ डालकर भीष्म ने नोट निकालते हुए कहा—"वाह बेट्टे, मेहनत हमारी और मेहनताना तुम्हारी जेब में।"

"अबे स्कूटर के पहिए, वसूली के लिए जो बकझक करके हमने दिमाग खराब किया, उसका कुछ नहीं।"

"हाँ हाँ, खराब दिमाग को ठीक करने का इन्तजाम ही तो था यह सब। ओडियन में टेन कमांडमेंट्स लगी है। रूह खुश हो जायगी। चल अभी सब राइट टाइम किये देता हूँ।"

भीष्म मेरा एकमात्र दोस्त था। हम दोनों एक-दूसरे के सामने एक्स-रे चित्र, कपड़े और माँस जिसमें कोई बाधा नहीं बन सकते और दिख जाता है भीतर का ओना-कोना, एक-एक दाग-धब्बा।

हम दोनों रोज मिलते। मिलते, तो लगता, बरसों बाद मिले हों। बिछुड़ते तो जान पड़ता गोया सदा के लिए बिछुड़ रहे हों। रोज शाम को घण्टों इकट्ठे रहते। कभी-कभी तो काफी-काफी रात गये किसी सड़क या पार्क में घूमते रहते। अगिन परतों तले दुबके-सहमे हमारे भाव एक दूसरे के सामने निडर नैपोलियन बन निकल आते। बतियाते, तो चिंतन के बखिये उधेड़ते चले जाते और लगता गोया अब तक का सारा दर्शन लकवाया हुआ था, हमीं ने उसे स्वास्थ्य दिया है। और तब हम एक दूसरे के पूरक से बन कर एक परिपूर्ण पदार्थ हो आते।

अगर हमारी एक भी शाम बिना मिले बीतती तो लगता, कुछ-खो गया है।

लोगों को हमारी कहानियाँ पढ़-सुन कर अक्सर यह भ्रम हुआ कि एक व्यक्ति दो नामों से लिखता है। शैली-साम्य जिस सीमा तक व्यक्तित्व-साम्य का सूचक हो सकता था, था।

कुछ विषय ऐसे भी थे जिन पर हमारे मत कभी-कभी क्लैश कर जाते। मगर उन पर भी हम असहमत रहने के लिए सहमत हो जाते।

भीष्म में कुछ नुक्स भी थे। मसलन कहीं जम कर नौकरी वह सिर्फ इसलिए नहीं कर पाया था क्योंकि उसके आत्मसम्मान को यह गवारा न होता कि मालिक उसके काम में नुक्स निकाले या किसी किस्म की कोई रोक-टोक लगाये। हजार बार उसे लोग-बागों ने समझाया कि भई नौकरी में इतना नखरा नहीं चलता। मगर उसकी समझ में यह सब कभी नहीं आया और वह छोड़-छाड़ कर फिर रोड-इंस्पैक्ट्री करने लगा।

एक बार बड़ी दौड़-धूप के बाद एक प्रकाशक के यहाँ पार्ट-टाइम काम मिला। तय हुआ कि अमुक काम महीने के अन्त तक हो जाया करेगा, समय पर दफ्तर आने-जाने की कोई पाबन्दी लागू न की जायगी। शर्त मान ली गयी थी इसलिए जब एक दिन समय के बारे में पूछ-ताछ कर ली गई तो यह सरासर अपमान था। और अपमान था तो काम पर लानत। हिसाब साफ कर लिया गया और फिर वही ढाक के...।

यूं, रुपये-पैसे की तंगी तो उसके लिए कोई नयी बात न होती। 'आया तली में तो उड़ाया गली में' वाली मसल थी उसकी। जेब में जब तक पैसे रहते उसे कीलों की तरह चुभते रहते। रुपयों का तो नाम ही उसने कीलें रख छोड़ा था। माँगने भी होते तो कहना—"क्यों यार कुछ कीलें हैं जेब में ?"—या अगर उसकी जेब में होते तो—"पाल, चलो आज कनाटिंग कर आयें। पाँच कीलें पड़ी हैं।" नतीजा यह कि हर महीने भाई की कमाई का आधे से अधिक भाग

उधार-खातों में जमा हो जाता और बचा-खुचा इधर-उधर की फिजू-लियात या जरूरियात में पहले ही हफ्ते बज-बजा के बराबर।

सर्दियाँ बढ़ रही थीं और कोट नहीं बन पाया था। रात को भी लिहाफ़ की जगह कम्बल में ही उकड़ूं पड़े रहना पड़ता। मगर उसी बीच मुरादाबाद से एक मित्र का पत्र आ गया कि पचास रुपयों की जरूरत है। तब भीष्म को तीन दिन तक चैन नहीं पड़ा और चौथे दिन जब इधर-उधर से दस-दस, पाँच-पाँच करके चन्दा-सा मांगने पर पचास का टी. एम. ओ. करवा आया तब कहीं जाकर आराम से बैठा।

मेरी पत्नी को तो भीष्म में सब नुक्स ही नुक्स नजर आते थे। इसीलिए वह इसे एक आँख न भाता। उसकी सूरत देखते ही मेम साहब के माथे की आकृति फूटे घड़े-सी हो जाती। मौके-बे-मौके वह उसके नुक्स गिनवाने लगतीं और हर समय उसे उससे कोई न कोई शिकायत बनी ही रहती।

मगर यह सब बातें काफी पुरानी पड़ चुकी हैं। मेरी और उसकी मसरुफ़ियतें, दुनियादारी के झमेले और कुछ दूसरे छोटे बड़े कारण ऐसे बनते ही रहे कि हमारी रोज़मर्रा की मुलाकातें क्रमशः घटती-घटती माहवारी फिर छमाही रह गयीं। अब बिन मिले हुआ-खोया भी कुछ खास नहीं लगता।

भीष्म काफी अर्से से नौकरी में जम गया था। घर-परिवार भी उसने जमा लिया था। आर्थिक स्थिति भी संभल गयी थी।

गोष्ठियों और पत्र पत्रिकाओं में भी अब वह कम ही नजर आता। फिर भी एक दिन एक गोष्ठी में टकरा ही गया। उसने एक कहानी

"हाँ, हाँ, चलेंगे।"—कह कर मैंने प्रसंग बदलने के इरादे से भीष्म को संबोधित कर कहा—"और कहो, क्या लिखा-पढ़ा इस बीच ?"

"कहाँ फुर्सत मिलती है, पाल भाई ! सुबह उठते ही दफ्तर की तैयारी शुरू हो जाती है। शाम को जरा देर से लौटना होता है। आकर खाना-वाना खाते ही कम्बख्त नींद घेर लेती है। देर तक जगूं तो स्वास्थ्य पर कु..."

"और फिर भाई साहब"—पति की बात को बीच में ही काट कर पत्नी बोली—"यह आपका साहित्य-वाहित्य तो बेकार समय नष्ट करने वाली बातें हैं। कई दिन लग कर इन्होंने एक कहानी लिखी थी। पूछिए मिला क्या ? सिर्फ दस रुपल्ली। इससे तो अच्छा है कि दफ्तर में थोड़ा-सा ओवरटाइम ही लग जाता है। चार पैसे भी घर आते हैं, तरक्की की राह भी खुलती है।"

और फिर कुछ इधर-उधर की बातों के बाद घड़ी देख कर भीष्म ने उठते हुए कहा, "अच्छा तो अब इजाजत दो, चलें, काफी देर हो गयी है।"

हम दोनों उन दोनों को गली की नुक्कड़ तक विदा करने गये। पुरतकल्लुफ़ 'नमस्ते-नमस्ते' और आगामी 'विजिट' के वादे ले-देकर हम लौट आये।

मेरी पत्नी को अब भीष्म से कोई शिकायत नहीं थी। भीष्म में अब कोई नुक्स नहीं रहा था। और मुझे लगा कि अब वह मेरा दोस्त नहीं, मेहमान था। ●

पढ़ी। मैंने भी। उस दिन किसी ने भी हमारे शैली-साम्य की आलोचना नहीं की।

अभी परसों की ही बात है कि दरवाजे पर किसी ने हलकी-सी दस्तक दी। पहचान नहीं पाया, कौन हो सकता है। श्रीमती जी ने दरवाजा खोला तो भीष्म दंपति ने बड़े शिष्ट अन्दाज़ में अभिवादन करते हुए प्रवेश किया।

भीष्म के हाथ में फलों का एक लिफाफा था जो वह मेरे बच्चों के लिए लाया था।

हमारी मेम साहब ने उन मेम और साहब को बड़े औपचारिक ढंग से बिठाया, खातिर-तवाज़ा की और इतने दिनों बाद आने के लिए उलहना भी दिया।

"और कहो भई, कैसी छन रही है ?"—मैं पूछ बैठा।

भीष्म इस बीच अपना सिगरेट केस मेरी ओर बढ़ा चुका था। मैंने एक सिगरेट ले ली, एक उसने निकाली और ओठों में दबाता हुआ बोला—'तुम्हारी दुआ है, पाल भाई।"

फिर उसने माचिस जलाई और जलती हुई सींक जो अनायास ही पहले उसके सिगरेट की ओर बढ़ गयी थी, उसे झट रास्ते में ही लौटा कर मेरी ओर बढ़ाता हुआ बोल उठा—"सॉरी !"

मेरी सिगरेट सुलगा कर उसने अपनी सुलगाई। एक पल को तो मेरे मन में आया कि कह दूं—'अबे स्कूटर के पहिए, क्या लखनऊ हो आया है ?'— पर जाने क्यों कुछ कहते बना नहीं और मैं मुस्करा भर दिया था।

हर पाँच मिनट बाद वह अपनी कलाई पर बंधी घड़ी देख लेता। अब के फिर देखा और कहने लगा—हाँ, तो भई किसी दिन भाभी को लेकर आओ न हमारे यहां भी।'

"हाँ जी, किसी दिन चलो न।"—झट से मेरी मेम साहब बोल उठीं।

खूबसूरत मोड़

'वो अफसाना जिसे अंजाम तक लाना न हो मुमकिन,
उसे इक खूबसूरत मोड़ देकर छोड़ना अच्छा।'—मेरी कहानी खत्म होते ही उसी के मुँह से बेसाख्ता 'साहिर' का यह शेर निकल पड़ा।

'साहित्य परिषद्' की गोष्ठी में वह पहली बार आई थी। गोष्ठी में अक्सर हल्की-फुल्की शाइरी और चुटकले बाजी बीच-बीच में चलती ही रहती थी। गम्भीर साहित्य का बोझिल वातावरण कुछ हलका हो जाता। मगर उसी के मुँह से निकले उस शेर को सुनकर मैं कुछ भारी हो उठा था। पता नहीं शेर में वजन था कि कहने वाली की बेसाख्तगी में, मैं दबा जा रहा था।

"कृपया वह शेर जरा नोट करवा देंगी?" उसके पास सरक कर दबी आवाज में मैंने फरमाइश कर डाली।

शेर, हालांकि मेरे भीतर तक नक्श हो चुका था, मगर उसी के मुंह से उसे फिर सुनने को जी हो आया। बहाना शिष्ट था और वातावरण अनुकूल। जी की बात रह गयी।

उसी ने मेरे पहले-पहले अनुरोध की लाज रख ली थी। शुक्रिया भी जरूरी था। शिष्टाचार का तकाजा पूरा करने का बहाना काम

आया। मैंने उसी से मुखातिब होने की अपनी चाह को चाश्नी में पगा कर उसके सामने उडेल दिया—"बहुत-बहुत धन्यवाद।"

"अजी नहीं, इसमें धन्यवाद की कौन-सी बात है? तो, यह शेर आपको बहुत पसंद आया?"

'बहुत ज़्यादा।" अब की बार मैंने कोई शिष्टाचार नहीं निभाया।

"आपकी कहानी पर ही मुझे याद आ गया था।" यह कहती हुई उमी कुछ ऐसी निगाहों से मुझे देख गई, गोया कह दिया हो 'देख लो, पकड़ ली न बात?'

और तब मैं वाकई कुछ झेंप गया था, जैसे रंगे हाथों पकड़ लिया होऊँ।

उमी की 'पकड़' ने मुझे इस बुरी तरह जकड़ लिया था कि मुझे अपनी कहानी को दिया गया 'खूबसूरत मोड़' एकदम भद्दा और बदसूरत लग उठा। आत्मकथात्मक शैली में लिखी हुई मेरी 'वेकुअम' शीर्षक कहानी के उच्च बौद्धिक स्तर के नायक का अपनी अनपढ़ पत्नी के साथ माल एडजस्टमेंट और नायक के भीतर की खला तथा अंतर्द्वंद्व तक तो सब सच ही था। सच यह भी था कि वह अपनी पत्नी को सिर्फ इसलिए पढ़ाना-लिखाना चाहता है कि वह अपने पाँवों पर खड़ी हो जाय, तो उसे तलाक दे दे। मगर उसके बाद की सारी घटनाएँ और नायक के वकुअम का भराव, यह सब उसकी वांछा का सत्य जरूर था, यथार्थ नहीं और इसी मोड़ की ओर उमी का इशारा भी था।

उस दिन तो उमी ने अपने कुछ मुक्तक ही सुनाये थे। मगर अगली गोष्ठी में वह आई तो एक कहानी लेकर। उसकी कहानी की नायिका एक ऐसे व्यक्ति से प्यार करने लगती है जो विवाहित है और अपनी पत्नी से असंतुष्ट। वह उसे तलाक देना चाहता है। मगर नायिका उसे यह कह कर रोक देती है कि तुम्हें प्यार की भूख थी, सो मैंने पूरी कर दी, बाकी तो सब ठीक-ठाक है ही, परेशान क्यों होते हो?

उमी की कहानी में जो मोड़ था, वह यह कि नायक के भीतर का वैकुअम नायिका अपने प्यार से भर देती है और उसकी गृहस्थी को टूटने से बचा लेती है।

कहानी पढ़ चुकने के बाद उमी ने पाण्डुलिपि के कागजों की सिलवटें निकालते हुए मेरी ओर एक हल्की-सी दृष्टि फेंकी, जो मुझे पूछ गई, 'कहो, 'मोड़ कैसा रहा ?' मैं उस निगाह के धक्के से सिहर-सिमट गया।

हमारी गोष्टी में एक नियम-सा था कि हर पढ़ी गई रचना पर सब लोग बारी-बारी अपनी प्रतिक्रिया कहते थे। अपनी बारी पर मैंने कुछ नहीं कहा। सिर्फ वह शेर पढ़ दिया—वो अफसाना जिसे...

उमी झेंप गई। मैंने पकड़ लिया।

गोष्टी खत्म हुई तो हमेशा की तरह अनौपचारिक चुटकुलेबाजी शुरू हो गई। उमी मेरे कुछ करीब सरक कर बोली, "मोड़..."

"खूबसूरत सपने की कतरन-सा।" मैंने उसकी बात शुरू होते ही उठा ली।

"इम्प्रेक्टिकल तो नहीं लगता न !" और फिर उमी ने सकपका कर तुरंत ही बात को दूसरा मोड़ दे दिया, 'मेरा मतलब है, कहानी में अव्यावहारिकता का दोष तो नहीं आ गया ?"

"व्यावहारिकता तो सापेक्ष होती है, मानेंगी न ?"

"हाँ।"

"किसी एक व्यवहार-विधान से मिला-मिला कर हर कोई अगर जीवन जीने लगे, तो जिंदगी एक मिट्टी का लोंदा बन कर रह जाय।"

उमी के चेहरे पर कुछ ऐसा दिखा, मानो मौज किनारा छू गई हो।

उस शाम गोष्ठी के बाद हम दोनों ने काफी रास्ता एक साथ तय किया। बस की इन्तज़ार में वह एक स्टेण्ड पर कुछ देर को रुकी भी

थी। मगर फिर जाने क्या सोच कर बोल उठी थी, "चलिये, ऐसे ही चलते हैं। पास ही तो है घर।"

"किस जगह जायेंगी?"

"वेस्ट पटेलनगर।"

हम चले थे शक्तिनगर से और बतियाते हुए आ पहुंचे थे पुल बंगश तक। मेरा घर अलबत्ता करीब रह गया था। मगर वेस्ट पटेल नगर तो वहाँ से चार मील से कम नहीं था। उमी की असगत बात ने मुझे कुछ असमंजस में डाल दिया। कहा तो मैंने कुछ नहीं, साथ-साथ चलता रहा। यह भी बताने को मन न हुआ कि मेरा घर तो पीछे छूट गया है। उसने भी नहीं पूछा कि मुझे कहाँ जाना है। कुछ इस तरह चली जा रही थी, गोया आश्वस्त हो कि मेरा और उसका घर एक ही जगह है।

गुरुद्वारा रोड तक जा पहुंचे तो मैं कह उठा, "मेरा घर तो बहुत पीछे छूट गया है उमा जी।"

"अँ...ओह, तो आप..."

"क्षमा कीजिये, मुझे पूछना ध्यान ही नहीं रहा।"

"नहीं, नहीं, ऐसी तो कोई बात नहीं। बल्कि अच्छा ही हुआ, आपके साथ इतना समय..."

और तब जाने अचानक मेरी जुबान को क्या हो गया कि काफी देर तक बड़ी कोशिश करने पर भी कुछ बोल न सका।

पूरी पूसा रोड हम लांघ गये। न मैं बोला, न उमी। ईस्ट पटेल नगर का चौराहा क्रॉस करते समय पीछे से आती हुई एक कार से मुझे बचाती हुई उमी ने मेरी बाँह पकड़ कर मुझे अपनी ओर खींच लिया तो मेरी चुप्पी टूटी, "ओह, एक्सक्यूज़ मी, उमा जी।"

और तब मैंने जाने कैसी निगाहों से उमी की ओर निहारा होगा कि 'अभी एक्सीडेण्ट हो जाता' कह कर उसने मेरी बाँह छोड़ दी।

"होते-होते बच गया।" अपने शब्द मुझे कुछ लटके-लटके से लग आये। कदमों में अब और चलने की हिम्मत नहीं रही थी। अपने आपको धकेलता-सा चल रहा था।

"मालूम होत है आप काफी थक गये हैं।"

"यह थकन ही तो..."

मगर मैं तुरत बात बदल कर कह उठा, "मेरा मतलब है कि काफी चले हैं हम लोग। आप भी तो थक गई होंगी ?"

"नही तो।"

मुझे लगा, उमी ने मेरे थकान वाले एहसास को हलकाने के लिए ही यह कहा था। मगर जब हम उसके घर पहुचे, तो जिस फुर्ती से उसने मेर लिए चाय बनाई, उसे देखकर मुझे यकीन हो गया कि उसमें थकन नाम को भी न थी।

हम दोनो चाय पीने बैठे, तो मुझे ध्यान आया कि उमी के घर में और कोई दिखाई नही पड़ रहा। कमरे में सामान तो थोड़ा-सा, पर करीने से सजाया हुआ था। दीवार पर एकमात्र पेण्टिग लटक रही थी। पलग के पास ही एक केन के शैलफ में कुछ किताबें चुनी हुई थीं। किताबों के नाम उमी के प्रबुद्ध पाठिका होने की गवाही दे रहे थे। दूसरे कोने में पड़े ड्रेसिंग टेबुल पर सजी प्रसाधन सामग्री की एक-एक चीज़ उसकी सुरुचि का परिचय दे रही थी।

मुझे इस तरह अपने कमरे का जायज़ा लेते हुए देखकर उमी ने पूछा, "कहिये पसंद आया मेरा घर ?"

"आपकी एस्थेटिक सेंस तो दाद के काबिल है।"

"देखिये यह दाद-खुजली मुझे पसंद नहीं।" यह कह कर उमी पहली बार बेतकल्लुफ़ी से मेरे सामने खिलखिला कर हंसी थी। मैंने भी उसकी हसी में साथ दिया। और फिर चाय का एक गर्म घूट भर कर प्याली को प्लेट में रखते हुए पूछा, "मालूम होता है आपके घर में...यहां..."

"जी हाँ, मैं यहाँ अकेली रहती हूँ। घर के सब लोग मेरठ में हैं। बी० एड० करने यहाँ आई थी। करते ही सर्विस लग गई। सो तब से बस यहीं पर हूँ। कुछ टाइम स्कूल में कट जाता है, बाकी किताबों में।"

"कितनी खुशनसीब हो तुम...क्षमा कीजियेगा, आप।"

"क्यों जी, यह करेक्शन क्यों किया गया ?"

"भूल हो जाय तो सुधार ही लेनी चाहिए न ?"

"वाह ! जीवन भी जैसे गणित की प्राबलम है।"

"यह तो मैं नहीं कहता। अच्छा, बताइए तो भला, आप जिंदगी की एक शब्द में क्या परिभाषा करेंगी ?" मैंने जाने क्या सोच कर एकदम यह प्रश्न कर डाला।

उमी हकलाने-सी लगी, "मैं...मैं तो...मुझे तो 'स्वाभाविकता' से अच्छा शब्द इसके लिए नहीं मिल रहा।"

"तो क्या अशिष्टता ही स्वाभाविक है ?"

"ऐसा तो नहीं, पर शिष्टाचार में कुछ अस्वाभाविकता की बू जरूर आती है। अब देखिये न, आपके मुंह से अभी स्वाभाविक रूप से 'तुम' निकल गया, तो आपने फौरन भूल-सुधार के नाम पर अस्वाभाविकता ओढ़ ली।"

और तब मुझे उमी की बातें बहुत अच्छी लग रही थीं। मन नहीं हुआ कि टोक दूं। वह कहती रही, "फारमैलिटीज़ की हाइड्रोजन गैस के बीच अधिक देर तक बने रहना बरदाश्त नहीं होता, और फिर देखो न, इस गैस में वज़न भी तो कुछ नहीं। हवा से भी हल्की होती है। ख्वामख्वाह इसे शिष्टाचार के रंग-बिरंगे बैलूनों में भर कर उनकी डोर पकड़े अटेनशन खड़े रहते हैं। जरा-सा ध्यान चूका नहीं कि डोर का छोर हाथ से सरका। लपक-झपक कर उसे फिर-फिर पकड़-खींच कर अपनी स्वाभाविक मुद्राओं को बिगाड़ने से क्या हासिल पाल जी ?"

"अच्छा तो उमा, अब तुम भी तो मुझे इस 'जी' के जंजाल से मुक्त करो। कहो, सिर्फ 'पाल' कहो।"

उमी ने बिना कुछ कहे उस पल जो कुछ कह दिया था, उतना कुछ कहलवाना मैं शायद नहीं चाहता था। उसकी भूरी पुरी निगाह जो मैंने देखी तो देखते रहते न बनी।

ठण्डी हो चुकी चाय को एक ही दो घूंट में गटक गया और सिर्फ निगाहें चुराने का बहाना तलाशता-सा पैण्ट की जेबों में सिगरेट का पैकेट टटोलने लगा।

"यह लो!" उमी के हाथ में सिगरेट था और वह उसे मेरे ओठों की ओर बढ़ा रही थी।

पैकेट मेरे सामने मेज पर ही पड़ा था। उमी ने मेरी बदहवासी में भी मेरी ज़रूरत को जान लिया था। यह जानकर मुझे भला भी लगा, अजनबी भी। आदी जो नहीं था। "ओह...," सिगरेट मैंने ले ली और आदतन 'थैंक्यू' कह उठा।

"फिर वही!" उमी ने डांट-सा दिया। डांटा जाकर भी गुदगुदाया जा रहा-सा लगा।

तो डांटने का अधिकार भी उसने ले लिया था। इस छीने गये अधिकार ने एक साथ इतना कुछ दे दिया था कि जब उमी ने माचिस की सींक जला कर मेरे ओठों में दबे सिगरेट की ओर बढ़ाई तो मैंने अपनी दोनों अंजलियों से उसके हाथ को घेर कर अपना मुँह झुका दिया। सिगरेट सुलग गई। सारा शिष्टाचार धुएँ में उड़-छितर गया। मैं कश खींच-खींच कर फेंकता रहा। धूँआ उड़-उड़ कर कमरे के दरवाजे और खिड़की की राह बाहर निकलता रहा।

काफी देर तक दोनों चुप रहे तो उमी ने मेज पर झुक कर मेरा हाथ झकझोरते हुए कहा, "पाल!"

"हाँ!"

उमी को अपनी ओर बिटर-बिटर तकती हुई पाकर मैंने सिर्फ उसे बुलवाने भर के इरादे से फिर कहा, 'कहो।"

'पाऽल !" अबकी बार उमी का स्वर जरा लटका-लटका और आवाज़ से ज्यादा साँस छोड़ता हुआ था ।

जाने कौन सी शक्ति से प्रेरित होकर मैंने उमी का बढ़ा हुआ हाथ अपने हाथों में समेट-भींच लिया और मुंह से पहली बार अनायास ही फिसल पड़ा, "उमी !"

उमा उसी क्षण से उमी हो गई थी। फिर जब-जब भी मैंने उसे उमा कहा, उसने टोक दिया।

उसी शाम उमी दूरियों के कई पर्दे एक साथ उठा कर मेरे इतने करीब आ चली थी कि उसकी गरिमा में मेरे ऊपर की बर्फ गल-गल जाने लगी। सेंक भीतर तक न पहुँच जाय, इस डर से मैंने एक ही झटके में उन तमाम उठे पर्दों को गिराते हुए कह उठना चाहा—'नहीं उमी, और नहीं। सह नहीं पाऊँगा।' मगर यह भी तो कह नहीं पाया था। कह पाया तो सिर्फ इतना, "उमी, अपनी कहानी को इसी स्थल पर कोई खूबसूरत मोड़ दे सको तो..."

आगे मुझे शब्द नहीं मिले। वाक्य पल भर को लटका ही रहा। पर उमी ने उसे उठा लिया। कहने लगी, "सकूं, तो ठीक है, नहीं तो ?"

"नहीं तो, एण्टी क्लाइमेक्स..."

"अच्छा तो पाल, मेरी कहानी वाले क्लाइमेक्स के बारे में क्या खयाल है ?"

"देट्स टू मच, उमी। मैं पति हूँ, पिता हूँ। तुम...उमी तुम्हारा कौमार्य मुझे हमेशा डराता रहेगा। और फिर मुझसे तुम पा भी क्या सकोगी ?" मैं कुछ भावुक हो आया था।

पर उमी की मुद्रा से लगा कि वह नार्मल है। सधे-टिके स्वर में

कहने लगी, "पाने की सार्थकता तो पाने वाले की वांछा के अनुरूप होने में ही है। किसी सामान्य कसौटी पर उसे कैसे कस सकते हो पाल ?"

"वो सब ठीक है उमी। पर तुम्हारा यह तर्क भी मुझे सांत्वना नहीं दे पाएगा। तुम्हारी मैत्री की देन, मुझे अपने आपको मिली भीख लगती रहेगी। इस एहसास को कहां ले जाऊँ ?"

'तुम अपने आपसे बहस कर सकते हो, पाल। पर मैं अभी इतनी बौद्धिक नहीं हो पायी हूँ।"

उमी ने जिस आत्म-विश्वास के साथ मेरी बौद्धिकता को झटक कर रख दिया था, उस प्रहार से मेरे सारे तर्क बिखर गये थे।

फिर रात के ग्यारह बजे तक उमी बतियाती रही। और मैं अपनी उस बिखरन को टटोलता रहा। लगा मेरे तर्कों की बिखरन एक घूर है और मैं भूखे कुत्ते की तरह उसमें से जूठे टुकड़े चुन रहा हूँ।

उस रात जब उमी के यहां से निकला तो घर जाने की कोई बस नहीं मिली। उमी मुझे बस स्टेण्ड तक छोड़ने आई थी, कहने लगी, "यहीं रुक जाओ।'

रुकना चाहा भी। पर रुक न सका। उमी ने जिद न की।

टैक्सी या स्कूटर की अपेक्षा पैदल जाना मुनासिब समझ कर चलने को हुआ तो उमी ने शार्ट-कट सुझाकर मज़ाक कर दिया, "देखना, कहीं राह न भूल जाना।"

मेरे मुंह से तब अनायास ही सरक आया, "मेरे घर को जाने वाली हर राह शार्ट-कट है उमी। हर सड़क मेरे घर को जाती है। अपने घर का रास्ता मैं कभी नहीं भूला।" बात हंसी में थी। उड़ गई।

और फिर उमी से विदा लेकर मैं चल पड़ा। शार्ट-कट से होकर भी रोहतक रोड तक पहुँचते-पहुँचते बारह बज गये थे। डी० सी० एम० के क्वार्टरों के बीच से होकर किशनगंज स्टेशन के सामने जा निकला।

चाय की तलब लगी, पर आसपास कहीं कोई दूकान खुली हुई दिखाई न दी। पुल चढ़कर स्टेशन के प्लेटफार्म पर उतर आया। स्टाल पर जाकर एक कप चाय ली और पास ही पड़ी बेंच पर बैठ कर पीने लगा।

छोटा सा स्टेशन। एक ही प्लेटफार्म पर थोड़े-थोड़े अन्तर से गड़ी हुई चार-पाँच लकड़ी की बेंचें। बेंचों पर ऊंघते दो-चार मुसाफिर और रात की आखिरी गाड़ी की इन्तज़ार में बीड़ी के कड़वे कशों म नींद को धकियाते हुए सूखे पिचके गालों वाले कुली। प्लेटफार्म के थोड़े से भाग पर टीन का जंग-खाया शेड और उसके साथ लटके दो-तीन बदशक्ल बिजली के पंखे तथा पीलिया-मारी रोशनी फेंकते हुए दो-एक बीमार से बल्ब। बायीं ओर को थोड़ा सा हट कर गोदामनुमा दफ्तर। ढीली मैली वर्दी पहने असिस्टेंट स्टेशन मास्टर, ब्लाक कन्ट्रोल यंत्रों की रह रहकर बज उठने वाली घण्टियों की टंकारें।

प्लेटफार्म के दोनों ओर लाइनों का जाल: मालगाड़ियों के नम्बर लेता हुआ मरियल सा गाड़ी बाबू; शण्टिग करवाता हुआ जमादार; कपलिंग और पाइप जोड़ता हुआ नीली वर्दी में काला सीकिया शंटिंग-पोर्टर।

कुछ डिब्बों पर 'नाट टु बी लूज शंटेड' के बड़े-बड़े लेबल। कुछ ढके हुए डिब्बे, कुछ छत-विहीन।

इतने में बीच वाली लाइन पर एक डिब्बा लावारिस-सा मेरे सामने से गुजर गया। दूर से ही शंटिंग-इंजन उसे धक्का देकर लौट गया था। उस डिब्बे पर भी वही लेबल लगा था—'नाट टु बी लूज शण्टेड।' पर फिर भी उसकी लूज़-शंटिंग की जा रही थी।

मुझे उस समय अपना आपा उस धकियाये लावारिस डिब्बे सा लग उठा।

—धड़ाऽक्...

वह डिब्बा किसी और लावारिस डिब्बे से जा टकराया था। बड़े जोर की आवाज हुई। शायद उसके भीतर कोई शीशे-वीशे का टूट-फूट जाने वाला सामान होगा। तभी तो उसके लिए एहतियात बरतने का लेबल लगा था। मगर इतने जोर की टक्कर से बीच का सारा नाजुक सामान चूर-चूर हो गया होगा।

चाय का जो घूँट भरा, वह पिघला हुआ काँच लगा जो मुझे भीतर तक चीर गया।

रात को एक बजे घर पहुंचा, तो बट्टू-टीटू और बबली सो चुके थे। अमला जग रही थी। पता था सामना होते ही जवाब तलबी होगी, इसलिए पहले ही कह दिया, "गोष्ठी से उठा तो एक मित्र के यहाँ चला गया। देर हो गयी।"

"तो वहीं रह जाते ना! घर आने की क्या मुसीबत थी?"

मैं चुप रहा।

उसे शह मिली। बोली, "थोड़ा-थोड़ा संखिया ला दो हम सब को तो जान छूटे तुम्हारी।"

और फिर भिन्नाती-बड़बड़ाती हुई रसोई में गयी और खाना लाकर मेरे सामने रख दिया। भूख मुझे थी नहीं। पर न खाता तो···

खैर पानी के घूंटों के सहारे दो-एक रोटियां तो निगल लीं मगर बिस्तर में लेटने के बाद काफी देर तक नींद नहीं आयी।

अपने जीवन की कहानी के कई पन्ने अन्धेरे बन्द कमरे में भी उड़-उड़कर आंखों के सामने खुल-खुल जाते रहे। उमी के सुझाये 'मोड़' को भी कई कोनों से जोड़ता-तोड़ता रहा। मेरा पति और पिता का रूप, उमी का कुंआरापन, उसके कौमार्य से लगने वाला भय, मेरे तर्क, उमी की आस्था—ये सब अजीब गुलझटें मुझे घण्टों उलझाये रहीं।

अगले दिन उमी मुझे कालेज से ही अपने साथ ले गई थी। एक पीरियड मुझे और लेना था। मगर स्टाफ रूम में आकर जब उसने तुरन्त साथ चलने की जिद की तो टालते नहीं बना। प्रिंसिपल को सूचना देकर एक पीरियड की छुट्टी ले ली और चल दिया।

हम लोग काफी देर तक काश्मीरी गेट के पास वाले पार्क में बैठे रहे। मुझे यों चुप देखकर उमी कहने लगी—"सोचते होगे, कैसी बोर हूं।"

"सो क्यों?"

"तो फिर क्या हूं?' उमी का वह प्रश्न सुनने में तो बड़ा मामूली था, मगर उस सवाल के साथ उसके चेहरे पर अचानक जो गैरमामूली तह चढ़ आयी थी, उसके नीचे उसने अपने को छिपाकर वाकई इतनी रहस्यमयी बना लिया था कि मनोविज्ञान का प्रोफेसर होते हुए भी मैं उस समय उसकी मनःस्थिति का ठीक ठीक विश्लेषण करने की स्थिति में नहीं रहा।

उसने गर्दन और भवों को जरा-सी हरकत देकर ही शब्दों का उच्चारण किये बिना अपना प्रश्न दोहराया तो मैं सकपका गया, "तुम...उमी...तुम उमी हो...एक...एक लड़की हो, सुन्दर लड़की, कुंआरी और..."

'बस!!"—इस 'बस' शब्द को उसने दोनों जबड़े भींच कर कहा और कुछ क्षणों को पहले से भी ज्यादा सीरियस होकर तुरन्त ही गोया एकदम नॉर्मल हो आने का उपक्रम किया। उसके बाद उसने जो हल्की और बेकार-सी दो-चार बातें की उनकी कुछ लमहों पहले की, उसकी मनःस्थिति के परिप्रेक्ष्य में कोई संगति मुझे नहीं लगी। मसलन, जापानी सहायता से दिल्ली के कुछ पार्कों का पुनरुत्थान, नगर निगम के चुनाव, सरकारी बसों की भीड़ और नये मीट्रिक पैमानों पर तस्करी जैसी बेतुकी बातें और उसका बिना बात का हंस पड़ना, यह सब मुझे कुछ अन-ईज़ी सा कर गया।

उमी को ऐसी बहकी मनःस्थिति में छोड़ना मुझे अखरा तो जरूर पर उसी का आग्रह था कि मैं उस शाम उसके साथ वेस्ट पटेलनगर न चलूं क्योंकि उसे अपने स्कूल के प्रश्न-पत्र बनाने थे।

उसके बाद कई दिनों तक उमी से भेंट न हो सकी। एक शाम मैं किशनगंज स्टेशन से गाड़ी में चढ़कर दिल्ली जंक्शन पर उतर रहा था कि प्लेटफॉर्म पर भीड़ में खड़ी उमी दिखाई पड़ गई। वह उसी गाड़ी से कहीं जाने के लिए आई मालूम पड़ती थी। सोचा, बुलाऊं। पर कन्नी काट कर निकल ही चला था कि उमी लपकी हुई मुझ तक आ पहुंची।

"कहां जा रहे हो ?"

"लाइब्रेरी।"

"मेरठ जा रही हूं। साथ चलो। कल लौट आयेंगे।"

पर मैं, जाने क्यों, साफ इन्कार कर गया। मेरा इन्कार मुझे खुद बुरा लगा। उसे जाने कैसा लगा होगा ! पर फिर भी हम खड़े बातें करते रहे। बातें जो सिर्फ बातों के लिए थीं। ओर-छोर मकसद कुछ नहीं। गाड़ी अभी काफी देर रुकनी थी। उमी ने कैसी अधिकारपूर्ण टोन में मुझे साथ चलने को कहा था और मेरे नकारने का अन्दाज कितना गवारू था ! इस पर उसने कोई टिप्पणी नहीं की, कोई शिकवा नहीं किया। इसकी मुझे शिकायत हो आई।

मगर उमी के निमंत्रण के जिस स्पष्ट इंगित को मैं नज़र-अंदाज कर चुका था, उसके बाद अपनी शिकायत को लेकर उमी से नजर मिलाने की ताब मुझ में नहीं थी। गाड़ी का सिगनल गिर गया था। संकेतक झुकते ही उमी डिब्बे के अन्दर जा बैठी और मेरे पास वाली सलाखों की खिड़की में से बातें करने के लिए शब्द ढूंढने लगी। सिगनल जब तक नहीं गिरा था, गाड़ी हिलने का कोई सवाल न था। पर अब, जबकि उसका संकेत झुक-गिर गया था, तने-उभरे इशारे का मुंह लटक आया था, तो गाड़ी के किसी भी क्षण हिल पड़ने का अंदेशा था। इसलिए उमी भीतर हो गई थी।

और फिर हुआ भी यही। कुछ ही पल बाद गाड़ी स्टीम छोड़ती हुई हिल पड़ी। मैं हाथ का रूमाल हिलाता खड़ा रह गया।

मगर प्लेटफार्म अभी आधा भी नहीं लांघ पाई थी कि गाड़ी एक झटका खाकर रुक गई। पता चला कि वेकुअम पूरी तरह नहीं बन रहा।

मैं फिर से लपक कर उमी की खिड़की के पास पहुंच गया। बात कोई खास तो करने को थी नहीं। गाड़ी के वैकुअम को लेकर कहने लगा, "कैसी अजीब बात है, उमी कि गाड़ी में जब तक वैकुअम पूरा तरह से नहीं हो जाता, वह चलने के काबिल नहीं बनती।"

उमी ने बात को तुरन्त पकड़ लिया और उसकी मुद्रा कुछ इस तरह की बन गई, गोया मेरे विचार के सूत्र की कोई गाँठ खोल दी हो। कहने लगी, "शून्य की स्थिति में लाकर ही तो किसी वस्तु को मनमाने ढंग से ढोया-हाँका जा सकता है पाल, अन्यथा नहीं।"

उमी की बात ने मुझे चौंका दिया। बात की बात में उसने कितनी बड़ी गिरह खोलकर रख दी थी!

मुझे लग आया: मेरे भीतर वैकुअम जब तक बना हुआ है, तभी तक मैं घर-परिवार-संसार के लिए उपयोगी हूँ। वैकुअम जिस दिन भर जायेगा, मेरा उपयोग मर जायेगा। शायद इसीलिए उसे भरने नहीं दिया जाता।

उमी ने अपनी कलाई पर बंधी घड़ी देखकर कुछ चिन्तित स्वर में कहा "जाने अब यह कितनी देर का चक्कर पड गया! गाड़ी अगर ज्यादा लेट हो गई तो घर पहुचते तक आधी रात हो जाएगी।

पर इतने में पता चल गया कि ट्रेन-एग्ज़ामिनर ने नुक्स ढूंढ़ लिया है। एक जगह दो डिब्बों के बीच का कपलिंग टूट जाने से वैकुअम-पाइप अलग हो गये थे। उन्हें जुड़वाया जा रहा है। कपलिंग और पाइप जुड जाने पर ही वैकुअम बन पायेगा। यानी कपलिंग और जुड़े पाइप टूट जाने से वैकुअम भर जाता है।

मैं तब बड़े ज़ोरों से चाह उठा कि मेरा कपलिंग टूट जाए···जुड़े पाइप अलग जायं।

मगर इसी बीच सब कुछ फिर जुड़ चुका था। गाड़ी चल पड़ी। उमी चली गयी।

फिर एक महीना बीत गया। उमी मुझे नहीं मिली।

अचानक एक दिन उमी की शादी का निमन्त्रण पत्र मिला।

उमी की शादी में मैं मेरठ गया। उमी से मिला। उमी ने मुझे अपने पति से मिलवाया।

अपने पति का परिचय देती हुई उमी का अन्दाज़ कुछ इस किस्म का था, गोया पति के रूप में वह अपनी 'कहानी' का कोई नया पात्र इन्ट्रोड्यूस कराती हुई पूछ रही हो 'कहो, इस मोड़ के बारे में क्या ख्याल है?'

"आप से मिलकर बड़ी खुशी हुई।"—मैंने उसके पति से कहा।

"मुझे भी।" जवाब में उसने कहा।

मगर उसे उमी से मिलकर या उमी को उससे मिलकर अधिक दिन तक खुशी न रह सकी थी। इस बात की सूचना मुझे उमी के खतों से बीच-बीच में इशारतन मिलती रही।

एक साल सरक गया।

उमी का खत मिला कि वह आ रही है।

मैं स्टेशन पर उसे रिसीव करने गया। उमी की गोद में एक बच्चा था। गाड़ी से उतरते ही उमी ने मुझे अपना बच्चा दिखाया और हंसती हुई पूछने लगी "पसन्द है?" मुझे लगा कि उमी ने पूछा है 'कहानी का यह ट्विस्ट पसन्द आया?'

"सुन्दर है।" मैंने शिष्टाचार भर निभा दिया। जबकि वास्तव में बच्चा बदसूरत था।

"है न बिल्कुल बाप पर ?" उमी ने यह कहकर हँसने का उपक्रम किया। मैं कुछ न कर सका।

स्टेशन से बाहर निकले तो सामान टक्सी में रखवाकर उमी ने ड्राइवर से कहा "वेस्ट पटेल नगर।"

मैंने चौंककर उमी की ओर ताका। उमी मुस्करा पड़ी। गोया कह गयी हो 'तो क्या तुम समझे बैठे थे कि पुल-बंगश चलूंगी ?'

टैक्सी चल पड़ी तो उमी ने मुझे रास्ते में बतलाया कि उसने फिर दिल्ली में नौकरी कर ली है और पहले वाले मकान में ही रहेगी।

"वह मकान अब तक खाली पड़ा था क्या ?" मैंने आश्चर्य प्रकट किया तो वह जैसे मुझे कोई गुह्य बात समझाती-सी बोली, "खाली तो वह पहले भी नहीं था, पाल !"

इतना कह कर वह एकदम कई क्षणों तक चुपचाप मेरी ओर निहारती रही। पता नहीं मुझे अपनी बात समझ लेने का अवकाश दे रही थी या आगे के शब्द ढूंढने लगी थी। उसकी निगाहों में उस समय जो कुछ मैंने देखा, उसे कातरता भी नहीं कह सकता, मजबूरी भी नहीं। पर कुछ था जो मुझे बार-बार कौंच रहा था कि 'समझो··· क्यों नहीं समझते ?'

पर मेरी निगाहों की नासमझी पर तरस खाकर या फिर अपने भीतर ही कोई झटका खाकर उमी फिर से नॉर्मल हो आयी। कहने लगी, "एक सहेली से उसके फ्लैट का एक पोर्शन मैंने ले लिया था। मेरा कीमती सामान तो इस बीच वहीं रहा। अब तो स्थायी रूप से वहीं रहने का प्लान है। क्यों, कैसा लगा प्लान ? मेरा मतलब है, इम्प्रैक्टिकल तो नहीं लगा न ?"

उमी के चेहरे पर अब फिर से खुली-खिली मुस्कान थी। उसका प्रश्न व्याकरण की भाषा में प्रश्न होते हुए भी किसी उत्तर की अपेक्षा नहीं रखता था। अपने प्लान की व्यवहारिकता के बारे में उसने मुझे

से कोई राय न मांग कर अपने निर्णय की सूचना भर दी थी। इसलिए उत्तर देना बेमानी था।

घर पहुचे तो मैंने उमी के कमरे को ठीक वैसे का वैसा पाया, जैसा कि साल भर पहले था। हर चीज़ उसी करीने से रखी हुई, शेल्फ में वही किताबें झांक रही थीं। दीवार पर वही "संगमोत्सुका" शीर्षक पेंटिंग टंगी थी। उसी कुर्सी पर मैंने अपने को पाया जिस पर तब बैठाया गया था। उमी भी वैसे ही बैठी थी। बच्चे को उसने खाली पलंग पर कुछ खिलौने देकर लिटा दिया था। हमारे बीच वही टेबल और चाय की प्यालियाँ थीं।

मैंने पैकेट से सिगरेट निकालकर मुंह में लगाई तो उमी उसे सुलगाना भी न भूली थी।

फिर मैंने उमी के हाथों को भी ठीक उसी तरह अपने हाथों में पाया।

उमी ने अपनी सहेली के फ्लैट के अपने वाले पोर्शन में पड़े अपने कीमती सामान पर निगाह डालकर इत्मीनान की सांस ली और बोली, "अब ?"

"अब क्या उमी ?"

"अब तो मेरा कौमार्य तुम्हें डराता नहीं, पाल ?"

"उमी !"

"अब तो मैं पत्नी हूं, मां हूं और परित्यक्ता भी। जब कि तुम पति और पिता ही हो।"

"उमी प्लीज़ !" और फिर मैंने उमी के ओठों पर उंगली रख दी। उसका हाथ अपनी दोनों अंजलियों में भरकर चूम लिया तो मुझे कोई भय नहीं लगा। और लगा कि मैं उमी की कहानी के 'खूबसूरत मोड़' पर खड़ा हूं।

टोसतो रगें

सात दिन बाद देव घर लौटा तो तोषी घर में नहीं थी । नौकर ने बतलाया कि तीन दिन से अस्पताल में है ।

"क्यों, क्या हुआ ?"

"पता नहीं सा'ब । चार दिन हुए, कोई डाक्टरनी जी आई थीं । रात को बीबी जी की तबीयत खराब हो गई । मुझे टैक्सी बुलाने को कहा..."

"मैं पूछता हूँ, कि हुआ क्या था ?" देव नौकर को बीच में टोक कर चीख उठा । नौकर को आगे कुछ कहने की हिम्मत न हुई । उसकी खामोशी ने देव के गुस्से को घबराहट में बदल दिया । वह हकलाते स्वर में मिन्नत-सा करता हुआ कहने लगा, "ठीक-ठीक बताओ घनश्याम, क्या हुआ, कैसे हुआ, कौन से अस्पताल में है ?"

"जुबली अस्पताल में सा'ब ।" घनश्याम ने कुछ संभल कर फिर कहा, 'रोज खाना लेकर जाता हूँ । अब तो कुछ ठीक मालूम होती हैं । पर मैं सच कहता हूँ सा'ब, मुझे कुछ पता नहीं, क्या हुआ । एक बार पूछा भी था तो बीबी जी ने डांट दिया । फिर हिम्मत न

पड़ी।"

"डांट दिया !" देव इतना कह कर चौंक उठा। उसने फिर घनश्याम से कुछ नहीं पूछा। बार-बार उसे यह बात छू-छू जाने लगी, कि ऐसी कौन सी बीमारी हो सकती है जिस पर डांट दिया ? ठीक-ठाक तो छोड़ कर गया था। अचानक यह सब...

"और सा'ब कै रईं थीं कि सा'ब आएं तो फौरन अस्पताल भेज देना।"

और फिर तरह-तरह की आशंकाओं से घिरा-बंधा देव टैक्सी मंगवा कर अस्पताल के लिए चल पड़ा।

जुबली अस्पताल के प्राइवेट वार्ड के एक कमरे में लेटी हुई तोषी घूमते हुए सीलिंग फैन पर निगाहें गड़ाए अपनी जिंदगी के घुमावों का जायजा ले रही थी। टुकड़ों में उड़-उड़ कर विगत उसकी आंखों के सामने घूम-घूम जा रहा था। उड़ते हुए टुकड़े, कुछ तरतीब से, कुछ बेतरतीब। पिछले छः साल तो कुछ ऐसे अजीब टुकड़ों में कटे-बिखरे पड़े थे कि तोषी दर्शनशास्त्र की प्राध्यापिका होते हुए भी कुछ टुकड़ों का ठीक-ठीक विश्लेषण करने की स्थिति में अपने को नहीं पा रही थी।

...पांच साल का विवाहित जीवन और उस से पहले का एक साल का 'कोर्ट-शिप' पीरियड'...

...विचार और व्यवहार दोनों में स्वतंत्र तोषी को 'कोर्ट-शिप' में कोई खामी न लगी। देव उसे भा गया था तो उससे मिलने जुलने में झिझक कैसी ? और देव भी तो ऐसा था कि झिझक की कोई झीनी सी झालर भी लटक आए तो उसे झटक कर रख दे। मनोविज्ञान का युवा प्रोफेसर देव तन का चुस्त, मन का मस्त, मगर प्यार के घाट पर पहुंच कर उसमें जाने कितने युगों की प्यास उभक आई थी कि उसने अनागत के लिए भी जल को सहेज लेना चाहा था। वह उतावलापन उस से संभाले न संभला।

तोषी को देव की वह वहशत बुरी न लगी थी। मगर उन वहशत भरे लमहों में भी उस पर इस बात की दहशत बराबर सवार रहती कि कहीं 'कुछ'...

"बस देव, यहीं तुम्हारा-मेरा 'क्लैश' है। अब और आगे मत बढ़ो, कुछ हो गया तो..."

"तो क्या हुआ ?"

"मैं वह सब नहीं चाहती।"

"अजीब नारी हो।"

"यही समझ लो।"

"तो क्या कभी भी..."

"हाँ, कभी भी नहीं। मुझे बच्चों से नफरत है देव, नफ़रत !"

और फिर देव की वहशत ने नया मोड़ ले लिया। वह कई दिन तक तोषी से नहीं मिला। तोषी घबरा गई। खोजने चली तो पता चला कि देव बीमार था, अस्पताल से डिस्चार्ज होकर आए दो ही दिन हुए थे।

कुछ दिन और सरक गए। देव कुछ स्वस्थ हो आया तो एक दिन तोषी को साथ लेकर सैकण्ड-शो देखने गया। वहां से सीधा अपने फ्लैट पर ले आया। काफी देर तक उसे जाने नहीं दिया।

"देखो देव, तुम बेकार ज़िद करते हो। मैं कई बार तुम से कह चुकी हूँ कि..."

"कि तुम्हें बच्चों से नफरत है, यही न ? तो मैं उस गंद को तुम से भी ज्यादा नफरत करता हूँ।"

और फिर वही वहशत, फिर वही उतावलापन ! फिर वही प्यास ! प्यास, जिसे किसी भी कीमत पर देव बुझाना चाहता था—प्यास, जो तोषी ने जगाई थी और तोषी ही बुझा सकती थी।

तोषी भी उस वहशत के हिपनाटिक प्रभाव से बरी नहीं थी। देव के प्यार की गरिमा में वह भी तप-तप जाना चाहती थी। मगर अनिष्ट की आशंका में कुछ हो जाने का भय उसे हर बार रोक लेता था।

पर आखिर उस घुटन से छुटकारा मिल ही गया। अगले ही दिन देव और तोषी ने अदालत में जाकर शादी कर ली। उसी रात तोषी अपना फ्लैट छोड़ कर देव के यहां आ गई।

और फिर पांच बरस तक तोषी और देव, वहशत और प्यार, प्यार और जिंदगी, बच्चों की गलाजत से आजाद जीवन, गरिमा और चाह, 'आइडियल लाइफ', कुछ ऐसे ही शीर्षक रहे, पांच बरस के उन टुकड़ो के, जो रगीन सपनो की दिल फरेब कतरनों की तरह उड़-उड़ कर तोषी की, अस्पताल में पड़ी तोषी की दिलजोई कर रहे थे।

मगर कुछ टुकड़े ऐसे भी थे जो उन रंगीन कतरनों को कुतरने चले आए थे।

अभी-अभी नर्स आई थी। दवा का टाइम हो गया था। अस्पताल की घड़ी ने साढ़े पांच बजा दिए...देव अगर प्रोग्राम के अनुसार लौट आया होगा तो बस अब आता ही होगा! घनश्याम उसे भला क्या बता पाया होगा! मुझे अस्पताल में दाखिल सुन कर देव कितना घबरा घबरा गया होगा! ओह! ओह...देव!

और फिर तोषी की दृष्टि छत पर घूमते पंखे में उलझ गई। एक तीखा कुतरता टुकड़ा लहरा गया—देव की बुआ कुछ दिनों के लिए यहाँ आई हुई था। एक दिन देव से कहने लगीं, "सब सुख है बेटा, पर..."

"पर क्या बुआ जी?"

"बहू की सूनी गोद, बेटा।"

"हाँ बुआ जी, सब किस्मत की बात है।"

और तब पास वाले कमरे से बुआ-भतीजे की वार्ता सुनती हुई तोषी ने देव के स्वर में कुछ कचर जाने की आवाज भी सुनी थी। तोषी के भीतर भी कहीं कुछ टीस उठा था।

फिर दिवाली वाले दिन देव बहुत सी चीजों के साथ एक 'प्लास्टर आव पेरिस' का बना हुआ बच्चे का मॉडल ले आया। प्लास्टर का हंसता हुआ सफेद बच्चा।

"लो तोषी, इस मॉडल को कार्निस पर सजा दो।"

तोषी ने उसे कार्निस पर टिका दिया था। उस दिन के बाद तोषी ने कार्निस पर टिकी देव की निगाहें कई बार पकड़ी थीं।

इसी बीच देव को कुछ दिनों के लिए अपने कालेज के लड़कों का एक स्टडी-टूर लेकर दक्षिण की ओर जाना पड़ा।

उन दिनों तोषी का दिन तो अपने कालेज में कट जाता, पर शाम भारी पड़ने लगी। वह काफी वक्त तो पढ़ने-लिखने में निकाल देती थी। मगर वह जो बिस्तर पर लेटने और नींद के आने तक का टुकड़ा बच रहता, सड़े मांस की सी दुर्गंध फैला कर तोषी का दम घोंटने लगता।

सामने कार्निस पर टिका प्लास्टर का मॉडल उसका मुंह चिढ़ाने लगता। तोषी बत्ती बुझा देती। पर अंधेरे में भी वह हंसता हुआ बच्चा तोषी की आँखों के सामने से न हटता...देव और बुआ...प्लास्टर का मॉडल और देव...तोषी देव और बच्चा !

तोषी इन्हीं सब में उलझी हुई सो गई थी। नींद में ही उसने देखा, कार्निस पर पड़ा हुआ मॉडल देखते ही देखते हाड़-मांस का गोरा-स्वस्थ बच्चा बन गया है। बच्चा कार्निस से कूदकर नीचे आ गया है। देव उसे पकड़ना चाहता है। बच्चा रो उठा है, रोते-रोते ही वह बाहर निकलकर भागा जा रहा है। पीछे-पीछे देव लपक रहा है। फिर...बच्चा और देव भागते-भागते बहुत दूर निकल गए हैं...तोषी की पकड़ से परे...

को झटक दिया।

अगले दिन जब वह कालेज गई तो काफी हलकी थी। बड़े उत्साह से उसने क्लास लिया। मगर लेक्चर के बीच में आए 'नियोग' शब्द की अनावश्यक रूप से व्याख्या करती हुई वह कुछ बहक-सी गई। नियोग प्रथा के समर्थन में उसने जाने कैसे-कैसे तर्क दे डाले।

घर लौटने के बाद भी वह ग्लानि से घिरी-बंधी रही। अपनी उस अप्रासंगिक बहक का कारण उसकी पकड़ में नहीं आ रहा था। स्टूडेंट्स क्या सोचती होंगी कि फिलास्फी की लेक्चरर सनका गई है। अगर सामान्य ज्ञान के लिए नियोग शब्द को समझाना ही था तो भी इस प्रथा का समर्थन करने की क्या तुक थी ?

मगर अपनी मन:स्थिति का विश्लेषण करते-करते तोषी उस अप्रासंगिक बात का प्रसंग छू गई। उस स्पर्श से तेज लौ फूट उठी—"क्यों न मैं भी...।

और फिर उसे लगा, कि देव को लेडी डाक्टर का निर्णय बतलाने से तो यही अच्छा होगा।

कमरे में फुदकती हुई एक चिड़िया कार्निस पर पड़े प्लास्टर के मॉडल पर जा बैठी थी।

तोषी सोचती रही—कहीं भी...किसी से भी क्षणिक संपर्क... यहां ?...नहीं, किसी दूसरे शहर में। अपने को सोसाइटी-गर्ल पोज करके किसी बदनाम होटल या नाइट क्लब में कुछ रातें...पर नहीं, क्या जरूरी है कि उन कुछ रातों का फल निकले ही ?...तो फिर ?

और फिर अपने परिचय के क्षेत्र का लगभग हर ऐसा चेहरा, जो उस संभावना की जद में आ सकता था, तोषी के स्मृति-पटल पर घूम गया।

फिर अचानक एक बड़े जोर का झटका-सा लगा—देव अगर बच्चा चाहता है तो अपने ही रक्त की खुशबू उसमें सूंघना चाहेगा। बुआ भी

बहू की गोद में देव का ही बच्चा चाहती हैं। तो फिर यह सब कुछ जो अभी-अभी सोच डाला, वह क्या है, क्यों है ? क्या मेरी ही मातृत्व की भूख ? पर यह भूख भी तो देव द्वारा दिए गए खाद्य से ही शांत हो सकेगी। तो ?...तो ?

तोषी के सामने एक बहुत बड़े आकार-प्रकार का प्रश्न चिन्ह, नई रंगत का निशान, उसकी सारी कशमकश के प्रति बेकारगी का एहसास जताता हुआ उठ खड़ा हुआ।

तोषी चाह उठी—कितना अच्छा होता अगर डाक्टर सेठी यह फैसला दे देती कि मैं ही बच्चा पैदा कर सकने में असमर्थ हूँ !

इतना सोचते ही तोषी को गोया बिजली का 'करेंट' छू गया। मगर इसी 'शाक' में उसे लगा कि कोई गाँठ थी जो झटके के साथ खुल पड़ी है। वह अपने आप से प्रश्न कर उठी—"तो क्या यह असमर्थता पैदा नहीं की जा सकती ?"

सहसा उसे लग आया कि उसने निश्चय कर लिया है। 'नथिंग रांग' वाले एहसास को खत्म कर दूंगी। जिंदगी भर एक दर्दीली कुंठा लपेटे रहूँ, इससे तो बेहतर होगा कि वह असमर्थता ओढ़ लूं। देव भी बच्चों से नफरत करता है। बुआ का मन रखने को ही उसने अपनी नफरत छिपा ली थी। प्लास्टर के मॉडल वाली बात भी इत्तफाक ही थी। देव मुझे बेहद प्यार करता है। मुझे और कुछ नहीं चाहिए।

और फिर प्लास्टर के मॉडल को तोषी ने कार्निस पर से उठा कर बाहर फेंक दिया था।

टन...टन टन...टन...टन......टन। अस्पताल की घड़ी ने छः बजा दिए। तोषी ने करवट बदल कर आँखें मूंद लीं। घूमते पंखे की तरफ आँखें गड़ाए चित्त लेटे रहने से उसका सिर और कमर थक गए थे।

"तोषी !"

तोषी को अपने भीतर कहीं गहरे में से देव की पुकार आती लगी।

"तोषी-ई-ई-ई !"

बाँह पर स्पर्श पाते ही तोषी ने ग्राँखें खोलीं ग्रौर कमर के बल सीधी हो ग्राई। देव उसके बेड पर उसके ऊपर झुका-सा बैठा था। तोषी ने देव का हाथ ग्रपने दोनो हाथों में भींच लिया ग्रौर जिज्ञासु निगाहों का जवाब देने के लिए शब्द ढूंढ़ती-सी कहने लगी—"देव... देव मैंने..."

"यह सब क्या है तोषी ?"

देव के स्वर में घुलती घबराहट ने तोषी को झट शब्द दे दिए—"देव तुम्हें बच्चों से नफरत है न ?"

"तो ?"—देव की उस समय की ग्रावाज उतावलेपन की ग्राखिरी हद को छू रही थी।

"मैंने 'स्टरलाइजेशन' करवा लिया है देव !" इन शब्दों के साथ तोषी का मुंह तकिए पर ही लटक कर गिर गया। हाथों की पकड़ ढीली हो गई।

देव ने तोषी के ढीले हाथों को ग्रपनी ग्रंजुलि में समेट लिया ग्रौर दूसरे हाथ को तकिए के नीचे टिका कर लटकती हुई गर्दन को सीधा कर दिया।

तोषी ने ग्रपनी झपकती हुई पलकें खोलीं ग्रौर ग्रपने ऊपर छाई हुई देव की फैली निगाहों में कुछ खोजने लगी।

"क्यों देव ! तुम्हें बुरा लगा ?"

"नहीं तोषी, मगर यह सब करने की तुम्हें ऐसी जल्दी भी क्या थी ? मैं तो...मैं तो...हटाग्रो तोषी, सब ठीक है। जाने दो, ग्रच्छा ही हुग्रा।"

"नहीं देव, तुम कुछ कहते-कहते..."

"ग्रब कहने से क्या होगा तोषी।"

"देखो देव, परेशान मत करो, साफ-साफ कहो।"

तोषी को लगा कि उसका 'ब्लड-प्रैशर' एक दम 'कोलैप्स' की सीमा तक आ गया है।

"तुम्हें याद है तोषी, शादी से पहले की मेरी वहशत के वे दिन, जब तुम यह कह कर झटक दिया करती थीं कि मुझे बच्चों से नफ़रत है ?"

"हाँ, हाँ..."

"उन्हीं दिनों मैं कुछ दिन अस्पताल में भी रहा था ?"

"हाँ, हाँ, तो ?"

"मैंने खुद को स्टरलाइज़ करवा लिया था। पर इन पांच बरसों में उन टूटी नसों की टीस जब असह्य हो आई तो अब फिर से सात दिन अस्पताल में रह कर जुड़वा आया हूँ।" ●

गुरुकुल का कांगड़ी

लकड़ी की बैसाखियां

डा० माणिक की जब आभा से शादी हुई थी तब आभा टेलीफोन ऑपरेटर थी। शादी के फौरन बाद उसे नौकरी सिर्फ इसलिए छोड़ देनी पड़ी क्योंकि उसके पति के मतानुसार नौकरी का क्षेत्र नारी के लिए निषिद्ध है। अपने विधि-निषेधों के भण्डार में से पति महोदय ने और भी कई छोटे-बड़े लेबल चुन-चुन कर चिपकाने शुरू कर दिए आभा के व्यक्तित्व पर। गोया वह भी डाक्टर की डिस्पैन्सरी की ही कोई दवा की शीशी हो और उसमें पड़ी दवा के रंग और मात्रा तक को गोया लेबलों ने ढक दिया हो।

या फिर शायद, डॉक्टर माणिक नारी को कोई ऐसी दवा समझते हों जिसको प्रकाश से बचाने के लिए शीशे के मज़बूत ढक्कन वाली गहरे नील रंग की शीशियों में रखा जाता है। तभी तो वह मात्रा मापने वाली खुराकों के निशान भी लगाना जरूरी नहीं समझते थे। भीतर ही भीतर दवा रीतती-चुकती रहे और निज को दिखाए बिना ही अपना उपयोग लुटाती रहे। मगर आभा न तो डिस्पैंसरी की शीशी थी न नीली शीशियों में रखी जाने योग्य कोई प्रकाश-भीरु

दवा। वह तो विद्या के प्रकाश में निखरी-नहाई एक स्वस्थ मन-तन वाली युवती थी।

पर पंख खोलने को तैयार पाखी-सा आभा का कौमार्य, डॉक्टर के "ऑपरेशन थियेटर" के मंच पर आहत-विवश बेसुध रोगी-सा चीड़-फाड़ के औजारों के आगे टूटने-खुलने को खुला-उघड़ा आन पड़ा था।

एक एक करके पंख काटे गये। चुन-चुन कर निजपन के सारे परिधान चीरे गये। आपे के सब अवगुण्ठन छील-तराश डाले गये।

विवाह के डेढ़-दो वर्ष बाद ही जब मैंने आभा को देखा तो उसका व्यक्तित्व मुझे लगा—पोस्टमार्टम के लिए शल्यक्रिया-कक्ष में लाई गई लाश सा।

आभा पर इतने लेबल चिपका दिये गये थे कि उसके व्यक्तित्व का ओना-कोना उनसे ढक गया था; वह भीतर ही भीतर उबलती-घुटती रहकर आखिर ठंडा-सी चली थी।

किसी से मिलना-जुलना तो क्या, आमना-सामना तक निषिद्ध था। उसकी सब चाहों पर मनाहियों के पोस्टर चस्पां कर दिये गये थे।

और फिर धीरे-धीरे स्थिति यहां तक आ पहुँची कि डॉक्टर यदा-कदा आभा पर अपनी मर्दानगी का हाथ भी आजमाने लगे। शायद डाक्टर साहब तुलसी की 'ढोर गँवार शूद्र पशु नारी' वाली बात के हामी होने के कारण आभा को 'ताड़न की अधिकारिणी' समझ उसे उसके अधिकार से वंचित रखना नहीं चाहते थे।

किसी गुरुकुलीय-स्नातक की रूढ़ि कट्टरता से डाक्टर की प्रकृति का साम्य देख कर ही संभवतः आभा की सखी बेला ने डाक्टर का नाम 'गुरुकुल का बांगड़ो' रख छोड़ा था। बेला के मुंह से अनायास निकले इस हास्यास्पद संबोधन ने मुझे हंसी के साथ-साथ चिंतन का भी पर्याप्त मसाला दिया था।

डाक्टर माणिक से मिलिए तो मिलेंगे खीसें निपोरते हुए, सयत्न

उत्पन्न की हुई मुस्कान लेकर और शिष्टाचार के सब नियमों का अक्षरश: पालन करते-से। पर इन सब के पीछे छिपी कृत्रिमता झांके बिना रह जाए, नामुमकिन है; रुक्षता आपको छील न जाए, हो नहीं सकता और भीतर का छल उनके लाख रोके छलक न पड़े, कठिन है। गोरी चमड़ी और मजबूत डील-डौल के होते हुए भी मन निपट काला और व्यक्तित्व एकदम प्रभाव विहीन।

इधर आभा से मिलिए तो एक भ्रम सिर उठाने लगता है--कि कपट और छल का रचयिता ऐसी सुन्दर रचना कैसे कर सकता है? यह नि:छल कृति उस छलिये की क्यों कर होने लगी?

और फिर अपने आप ही जैसे एक विश्वास जड़ जमाने लगता है कि सौंदर्य स्वयं में अपनी कृति है और खुद ही कृतिकार।

हां तो समय का चक्कर कुछ ऐसा चला कि इधर तो आभा के एक बच्चा उत्पन्न हो गया और उधर डाक्टर माणिक की नौकरी छूट गयी।

होम्योपैथी के जिस धर्मार्थ औषधालय में वह काम करते थे वह बन्द हो गया था।

बेकारी के एक ही तमाचे से 'गुरुकुल के कांगड़ी' के भी सारे विधि-निषेध और कंगड़ाए-आदर्श काफूर हो गए।

और फिर उन्हें झख मार कर आभा को नौकरी की इजाज़त देनी पड़ी।

स्थानीय बाल-सदन में आभा मास्टरनी हो गयी। घर से बाहर आना-जाना खुला। कुछ लेबल फटे। कुछ जकड़नें ढिला आयीं। कई पोस्टरों की लेई छूटी। मगर घर के माहौल में कदम धरते ही दिन भर के फटे-ढिलाए-छुटे फिर से सिल-जकड़-चिपक आते। डाक्टर बहुधा तो खून का घूंट पीकर रह जाते मगर कभी-कबार जब गुब्बार निकालते तो वे किसी उद्जन-बम से कम न होते।

यह ठीक है कि संसार में सब परस्परापेक्ष है पर इसका यह

अर्थ तो नहीं कि उन सबका अपना-अपना कोई अस्तित्व नहीं, महत्व नहीं। अपने-अपने अस्तित्व को और अधिक महत्वपूर्ण एवं परिपूर्ण बनाने के लिए ही तो सब को एक-दूसरे की अपेक्षा है। हम अपने अभावों के पात्र एक दूसरे के समक्ष इसीलिए तो बढ़ाते हैं कि उनमें भराव आ सके। पारस्परिक रिक्तताएँ पूरने के निमित्त ही तो सौर-मण्डल के नक्षत्र एक दूसरे के गिर्द घूमते रहते हैं।

आभा यद्यपि यह जान भी चुकी थी कि उसके किसी अभाव की पूर्ति डाक्टर माणिक के पास नहीं, पर फिर भी उसने अपने पात्र की रिक्तता कभी किसी को दिखने नहीं दी।

आभा को देख कर ही मैं समझ पाया था कि नारी आंशिक रूप से पुरुष को पाना नहीं चाहती, क्योंकि उसके आत्म-समर्पण में आंशिकता नाम की कोई चीज नहीं होती। वह सब दे देती है। इसीलिए सब कुछ लेना चाहती है। अधिकारों का वर्गीकरण उसने कभी नहीं किया।

आत्म-समर्पण के इसी नशे में ही शायद वह डाक्टर माणिक की अधिकतर ज्यादतियाँ पी-पचा जाती थी।

पर आखिर पच भी तो उतना ही सकता है जितना आमाशय की सामर्थ्य में हो।

वक्त-बेवक्त और जरूरत से ज्यादा बोझल ताने तिशनों की दुष्पच खुराक खा-खा कर आभा की सहिष्णुता के आमाशय में विकार आ चुका था। तन-मन की रोगिणी दिनों दिन बढ़ता तनातनी झेल न सकी और एक दिन रेल के नीचे आकर कट मरने को कूद पड़ी। पर बदनसीबी उसकी कि कट गयी, पर मर न सकी। अपाहिज होकर रह गयी। एक पाँव जाता रहा।

और फिर इसके साथ ही जाने और भी क्या क्या जाता रहा उसके भीतर से!

निजत्व को घोटने-मारने वाली तथा अपने अस्तित्व तक की हत्या करने वाली उसकी कायर-चिढ़न जाने कौन से धर्म में दीक्षित हो आकर विप्लवी बाना ओढ़ आयी थी।

इस एक घाव ने उसके अन्दर के अगिन मवाद भरे घाव फोड़-बहा विष मुक्त कर दिये थे।

और फिर जब मैं आभा से अस्पताल में मिलने गया था तब तक उसका घाव भर चुका था। ताजे भरे घाव का खरींड दिखाती हुई भी तब वह कुछ न बोली थी। मुझे पता लग चुका था कि उसके पति ने इस घटना का संदर्भ जोड़ा है उसके किसी गुप्त प्रेम सम्बन्ध से। और वह इस हालत में भी उसे देखने तक नहीं आये थे।

आभा के मौन में से भी एक अजीब चीख सी फूट आ रही थी। मानो वह कह रही हो—मेरे आपे की धज्जियाँ उड़ चुकी हैं, पाल भइया। जोड़ सकते हो तो सामने रहो; वरना तुम भी चले जाओ। स्वयं सी-सँजो लूंगी अब।

शायद किसी और से भी नेह की कोई भीख अब वह नहीं चाहती थी।

मैं समझता हूं कि प्यार करने की ख्वाहिश प्यार के एहसास से भी ज्यादा प्यारी चीज है और अधिक कीमती भी। उसे खोकर जिस नुकसान का अन्देशा है उसका शायद अन्दाज नहीं था आभा को। तभी तो मैं उस अघट को घटने न देने के लिए अहद करता-सा कह उठना चाहता था कि नहीं आभा, कुछ नहीं हुआ। कहीं कोई धज्जी नहीं। गोया कहना चाह रहा होऊं कि यदि है भी तो मैं सी देने का वादा करता हूं।

मगर वहाँ शायद वादों की कोई तलब बाकी नहीं रह गयी थी। और वह अपनी वांछाओं के ओंठ सीखे रही। हालाँकि मैंने बेतरह चाहा भी कि किसी तरह हमारे बीच मौन की वह अर्गला टूटे तो। पर वह अर्गला शायद इतना जंग ओढ़ चुकी थी कि खुलने-टूटने

की सुध का कोई सेंक उस तक नहीं पहुँच पा रहा था।

उस दिन वह सामान्य से अधिक ढकी दीखी। जरूरत से ज्यादा बन्द। मैंने चाहा कि खुल पड़े। नहीं तो खोल दूं। इसी से कह उठा, "यह सब तुमने क्या कर डाला आभा ?"

और तब आभा ने उल्टे मुझ पर ही सान्त्वना देती-सी निगाह टांग दी थी। पर बोली फिर भी कुछ नहीं।

इसके बाद आभा से मैंने कुछ नहीं कहा और वापिस लौट आया। और फिर जब तक वह उस नगर में रही हमारी कोई भेंट न हो सकी।

कई दिन बाद हमारी एक सांझी मित्र बेला के द्वारा पता चला कि आभा अपने बच्चे को लेकर दिल्ली चली गयी है। पति का पतवार छोड़ चुकी थी उसकी नाव। बैसाखियों के मस्तूल लिए आगे बढ़ गयी थी।

और फिर दो तीन साल और सरक गये। बात आयी गयी हो गयी। इस बीच बेला को ही जब कभी आभा का कोई खत वत मिलता तो भले ही जिक्र छिड़ जाता। एक आध बार मैंने उसे पत्र लिखा था और सक्षिप्त-सा उत्तर भी आया था उसका। अब मेरा भी तबादला दिल्ली में हुए साल भर से ऊपर हो चुका है। मगर आभा से मिलने का कभी अवसर ही नहीं आया था।

पर गत रविवार यूं ही घूमता हुआ रोशनआरा बाग की ओर जा निकला, तो अचानक आभा से भेंट हो गई। बैसाखियाँ घास पर लिटाए वह एक बरगद के पेड़ के नीचे छोटी-सी दरी बिछा कर अधलेटी अवस्था में बैठी हुई थी। मुन्ना पास ही ट्राइ साइकिल पर इधर-उधर चुहल कर रहा था और एक अधेड़ उम्र की आया आभा का संतरे की फांकें छील-छील कर दे रही थी।

मुझे देखते ही आभा पुकार उठी, "ओह, पाल भइया !"

और फिर नमस्ते-नमस्ते का शिष्टाचार निभाने के बाद कुछ इधर-

उधर की बातें हुईं। पर शीघ्र ही बातचीत का बहाव गहरा हो आया।

अपने को बुरा-भला कहना भी कभी-कभी बड़ा भला लगता है। शायद उस समय हमारी प्यासी आत्मा को एक विचित्र से रस की प्यास हो आती है। और उस रस की निवृत्ति होती है शायद आत्म-संताप से ही। इस क्षणिक प्यास को बुझाने के लिए भले ही आभा बीच-बीच में एक-आध बार गीली हो आयी थी पर कुल मिलाकर वह खुश्क चट्टान ही बनी रही। गोया समाज के फर्ज़ की हदें देखना चाहती हो और देखना चाहती हो कि दुर्भाग्य कहां आकर हताश हो लौट पड़ता है या फिर कहां पहुंच कर टूट-चूर हो गिर जाता है।

मैंने एक से अधिक बार निर्मम होकर उसके नाजुक से नाजुक कोने को चीरा-उघाड़ा भी। पर वह तो जैसे क्लोरोफार्म के प्रभाव में सुन्न थी। उफ् तक नहीं की।

अपने चेहरे पर फैल आयी कुछ विकलता को पोंछती-सी इतना भर बोली, "स्वाभाविक व्यक्तिगत सम्बन्धों को मैंने कभी नीचा नहीं माना, पाल भइया। पर उन पर आँख रखने वाले मुझे सदा नीच लगे हैं।"

मैं बरगद के तने को एक हाथ से पकड़ कर बैठा-बैठा ही झूलता हुआ-सा और आभा की बात की गम्भीरता को हलकाता-सा कह उठा, "कुछ भी हो, आख़िर वे तुम्हारे पति हैं आभा। जो हैं, जैसे हैं; जो हुआ, हुआ। अब तो..."

मेरे शब्दों की गर्दन को उसने अपनी निगाहों की एक तेज़ धार से काट कर फेंक दिया और मैं बोलता बोलता सहसा अटक गया।

फिर धीरे धीरे उसने पास ही पड़ी अपनी बैसाखियाँ संभाली और उनके सहारे ऊपर उठती हुई आगे से भी अधिक गंभीर स्वर में कहने लगी, "हुए को अनहुआ करने और अनहोनी को होनी बनाने के निश्चय को तुम क्या नाम दोगे?"

इस बीच वह बसाखियां थाम पूरी तरह उठ चुकी थी।

मैं जो अब तक बरगद के तने से झूल रहा था, उसी के सहारे उठता हुआ कह उठा, "हठ!"

और फिर वह मुझे तौलती सी बोली, "काश, यही हठ हर आभा में आ सकता, पाल भइया!"

और तब कुछ देर रुक कर वह फिर कहने लगी, "समाज में "गुरुकुल के काँगड़ियों" की संख्या वृद्धि को रोकना है तो हर आभा को इस सीमा तक हठीली होना हीं पड़ेगा; अन्यथा शून्यों की तादाद बढ़ती रहेगी और पूरा समाज एक दिन एक बृहत्तर शून्य होकर रह जाएगा।"

मैं जो अब तक बरगद का तना पकड़े खड़ा था, आभा की बात सुनकर चौंक उठा।

और फिर अचानक ही मेरी निगाह डालियों पर फूट आयी नयी कोपलों पर जा पड़ी।

मैंने एक कोंपल को पकड़ कर तोड़ लिया। गाढ़ा गाढ़ा लेसदार दूध निकल आया। मेरे हाथ के साथ बेतरह चिपक कर रह गई वह कोंपल। उसे ठीक तरह से पकडने के लिए दूसरे हाथ की सहायता लेनी पड़ी। इसलिए दूसरे हाथ को मुक्त करने के लिए बरगद के तने को छोड़ना पड़ा।

बहुत कोशिश करने पर भी तब के अपने भीतर उठे भावों को शब्द में नहीं बांध सका। और उस विचित्र सी अनुभूति ने मुझे कितनी स्फूर्ति दी थी, इसका तो ठीक अन्दाज नहीं। पर इतना जरूर जानता हूँ कि मेरा सारा चिन्तन एक बड़ा सा छाला बन कर फूट गया था—इस सुई की नोक सी अनुभूति से। और मेरे सामने उभर कर आ गई आभा के व्यक्तित्व की वे ऊंचाइयां जिन तक वह आ पहुंची थी उन बैसाखियों के सहारे। तब मैंने जाना कि "गुरुकुल के कांगड़ी" के मुकाबले में "लकड़ी की बैसाखियों" का सहारा लेना उसने क्यों श्रेयस्कर समझा था। ★

शीर्षक-हीन

इतवार है। आज न तो काम वालों को काम पर जाना है, न बच्चों को स्कूल। इसलिए ज़रा-सी धूप निकलते ही आँगन में जहां-तहां खाटें सरक आयी हैं। बच्चे इधर-उधर गुल-गपाड़ा मचाते फिर रहे हैं। गली में गुब्बारे वाले की आवाज़ उठते ही कुछ बच्चे अपनी-अपनी मांओं से पैसे लेकर गली में भाग गए है। उनके लिए छुट्टी वाले दिन का महत्वपूर्ण मनोरंजन है यह।

जो बच्चे गुब्बारों और पीपनियों से खेलने की उम्र लांघ चुके है, उनका एक दल मुकुट बाबू के कमरे के सामने वाले धूप के टुकड़े में खाट डाल कर कैरमबोर्ड के गिर्द जमा हैं। काली-सफेद गोटियां पाकेट की जा रही हैं। सफेद गोल स्ट्राइकर बोर्ड पर इधर-उधर फिसल रहा है।

श्रीपाल बाज़ार से नाश्ता करके अपने कमरे में लौट आया है। दरवाजे पर लटके पर्दे का एक पल्ला उसने उठा दिया है और खाट पर लेट कर अखबार पढ़ने लगा है।

सामने मुकुट बाबू वाले कमरे में शीला बैठी दिखाई दे रही है। हाथ में चाय का कप और सामने फर्श पर खुली अखबार। पास ही बैठी निम्मो कुछ काढ़ रही है। केदार और बिल्लू बाहर कैरम की चौकड़ी में हैं। मुकुट बाबू दिखाई नहीं दे रहे। शायद घूमने गए हुए हैं। बुढ़ापे का शरीर है। सरदियों में धूप निकलने के बाद ही घूमने निकलते हैं। मांजी बैठी दरांती से सरसों का साग काट रही है। हरी-हरी गंदलें, पीले-पीले फूल, मौसम का मेवा।

श्रीपाल को भी सरसों का साग और मक्के की रोटी का स्वाद याद आ गया है। मुंह में लार टपकने जैसी अनुभूति हुई थी तो उठ कर एक सिगरेट सुलगा ली है। और पहले ही कश के साथ एक याद उड़ आयी है :

...शादी हुई थी। अमला बहू बना कर सौंप दी गयी थी, बंद बोरी की तरह। सुहागरात को बड़े चाव से वह बोरी खोली।

बहुत सोच समझ कर पहला सवाल जो किया, बस वहीं से दुर्भाग्य शुरु हो गया। सवाल था, "तुम्हें दुनिया में सबसे ज्यादा क्या पसंद है ?" और इस बात का जवाब था, "दूध।"

उसके बाद दूसरी कोई बात करने की हिम्मत वह बटोर नहीं पाया था। ठगा-सा अधलेटा बैठा रहा। अमला गठरी-सा बनी लिपटी-सिपटी बैठी थी। उसके गोरे-गोरे हाथ और मांसल देह देख कर श्रीपाल के भीतर कुछ कोमल भाव जागे जरूर थे, मगर कच्ची नींद से जागे बालक की तरह ही, जो जाग कर स्वस्थ प्रसन्न नहीं होता, बल्कि रोता-चीखता है।

अगली रात को फिर सामना हुआ। वही कमरा, वही पलंग। उसी तरह सिरहाने रखे स्टूल पर पड़े दूध के दो गिलास और कुछ मिठाइयां। पहली रात की तरह ही आज भी यह सब चीजें अनछूई पड़ी रहीं।

फिर उसी बंधी-बंधी मनःस्थिति में एक साल बीत गया। एक बच्चा भी हो गया। मगर श्रीपाल उस चोट को भूल नहीं पाया। दिन-ब-दिन भीतर ही भीतर सरकता गया। यूं, बातें तो घर में होती ही थीं, पर दुनियादारी की ओर बिलकुल जरूरत की, यानी घर-गिरस्ती की जरूरत की। श्रीपाल को लगता कि उसके भीतर का व्यक्ति अमला की नारी के समक्ष गूंगा हो जाता है। सिर्फ उसके बाहर का पति और परिवार-पालक का रूप ही अपना फर्ज निबाहता रहा।

आज भी अपने कमरे में लेटे-लेटे श्रीपाल के ओंठ व्यंग के अंदाज में कुछ फैल गए हैं। 'फर्ज ? ठीक है अच्छी बात है फर्ज निबाहना। मगर इस निबाह की सीमाएं बड़ी संकुचित हैं। जहाँ भी व्यक्ति के स्वार्थ को जरा सा खतरा पैदा हुआ कि वे सीमाएं टूटीं। अमला को मेरे गूंगे व्यक्ति का मौन कभी अखरा ? मुझे उसके भीतर की नारी कभी दिखी ? तो फिर फर्ज का फरेब कहां तक देता अपने को ? सिर्फ घर ? घर, यानी पति श्रीपाल, पत्नी अमला और पुत्र टीटू ? या कि एक दड़बा जिसमें तीन पशु हांक कर बंद कर दिये गए हों ?'

पास के कमरे वाला स्टोरकीपर शिवदयाल आंगन में बैठा शेव बना रहा है। खाट पर ही उसका सबसे छोटा बेटा बैठा सिगरेट की खाली डिब्बी से खेल रहा है। स्टोरनी (शिवदयाल की पत्नी को सब लोग इसी नाम से पुकारते हैं) गुसलखाने से नहा कर आयी है। शीला दूर से ही मजाक में कहने लगती है, "मौसी, छुट्टी वाले दिन तो नहाने का नागा कर दिया करो !"

शिवदयाल ने हंस कर पत्नी की ओर से उत्तर दे दिया है, "छुट्टी

वाले दिन ही तो इसे मजे में नहाने को मिलता है। और दिनों तो तुम लोगों की खातिर बिचारी को जल्दी-जल्दी ही निबटना पड़ता है। घण्टे भर से कम में तो यह बदन भी गीला क्या होगा?" शिवदयाल का इशारा अपनी पत्नी के मोटे शरीर की ओर है। स्टोरनी कृत्रिम गुस्से में पति से कहने लगी है, "तुम तो नहाने के चोर हो। सबी थारे जैसे दलिद्दरी हैं क्या?" और वह गरदन को झटका देकर अपने पिलपिल-थल-थल शरीर को धकेलती-सी चली गयी है।

सरदार हुकमसिंह के कमरे में रेडियो पर विविध भारती का प्रोग्राम चल रहा है। कुछ बच्चे धूप-छाँव का खेल खेल रहे हैं। कैरम खेलने वाली टोली की दूसरी बाजी लग रही है। पाकेट्स में से सारी गोटियाँ निकालकर फिर से बोर्ड के बीच में सजाई जा रही हैं।

"अबके स्ट्राइक करने का नम्बर किसका है?" केदार पूछ रहा है। बिल्लू स्ट्राइकर उठाता हुआ कह उठा है, "मेरा।" और फिर करीने से जमी हुई गोटियों को अपने दोनों हाथों से एक साथ दबाकर जरा ऐंगल ठीक करने लगा है।

और अब खड़ाक की आवाज़ के साथ गोटियाँ बोर्ड पर ही इधर-उधर बिखर जाने का स्वर गूंज उठा है।

"दो गयी हैं।" बिल्लू उत्साह में चिल्ला-सा पड़ा है।

"एक काली भी तो गई है।" स्टोरकीपर का बड़ा लड़का बोला है। केदार ने बिल्लू को डांट सा दिया है, "ढंग से स्ट्राइक भी तो करना नहीं आता। सब अंट-संट बिखेर डाली हैं।"

श्रीपाल अपने कमरे में लेटा ही बोर्ड पर बेतरकीब बिखरी पड़ी गोटियों की कल्पना करने लगा है। और फिर इसी कल्पना के साथ उसे अपने जीवन की कई बिखरनों का स्मरण हो आया है:

...मेरठ में था। पति और पिता बन चुका था। मगर भीतर के परस्पर विरोधी दो खण्डों में एक अजीब सी स्खलता हर समय परेशान करती रहती। उसमें से ही अक्सर एक धूंआ-सा उठता रह कर

एक आकार ग्रहण कर लेता : चित्र सा, मूर्ति-सा। और उस छाया मूर्ति से वह चिरपरिचित-सा लगता।

उसके भीतर के उपयुक्त दोनों विरोधी खण्डों में से एक तो उस छाया चित्र को आकार देता रहता और दूसरा उसे मिटाने में बराबर संलग्न रहता। और बनाने-मिटाने का क्रम भी कभी-कभी जब गति पकड़ लेता तो श्रीपाल के भीतर-बाहर एक ऐसी अव्यवस्था छा जाती कि उसे अपना पूरा व्यक्तित्व एक विशाल बिखरन बना लगने लगता।

फिर उसने एक दिन दृढ़ निश्चय कर लिया कि अमला को तलाक दे दूंगा।

मगर उस निश्चय को चरण देने की बात आई तो उसकी कल्पना की आँखों के आगे एक साथ घूम गया : वेश्याओं का कोई कोठा चौबारा...गद्दीधारी महंतों का मठ...कोई कुंआ, नदी, मिट्टी का तेल या दनदनाती हुई रेल का इन्जन।

और श्रीपाल का भावुक मन आंतक से सिहर उठा। ज्वार के ज्वर से गरमाई लहरें उठीं तो, चांद चूम न सकीं। निराश हो बैठ गयीं। और फिर उन लहरों के उतरे-चेहरे उदास-थकी निगाहों से श्रीपाल को निहारने लगे तो उसके ढीले स्नायुयों में फिर तनाव आ गया। टूटन की टीसें उठने लगीं।

और आखिर एक दिन बहुत सोच-समझ कर उसने एक प्लान सोचा : अमला को थोड़ा बहुत पढ़ा लिखा कर इस काबिल बना दूँ कि वह अपने पैरों खड़ी हो जाये। फिर ही तलाक दूं तो कैसा ?

लगा : यही ठीक रहेगा।

और प्लान बन गया। अमला आठ क्लास तक तो पढ़ी ही हुई थी। एक प्राइवेट स्कूल में उसे दाखिल करवा के मैट्रिक का फार्म भरवा दिया।

एक साल तो वह फेल हो गयी, मगर दूसरी बार जैसे-कैसे निकल

ही गयी। टीटू को सम्हालने के लिए एक बुढ़िया रख ली, जो घर का छोटा-मोटा काम भी कर लिया करती थी।

फिर मेरठ में ही बेसिक ट्रेनिंग करवा दी और वहीं एक स्कूल में कह सुनकर नौकरी लगवा दी। जब तक अमला पढ़ती रही, श्रीपाल ने अपना व्यवहार कुछ ऐसे नाटकीय ढंग से बदले रखा, जिससे अमला को इस बारे में बिलकुल भी सन्देह न होने पाये कि इस प्लान के पीछे असल मंशा क्या है ?

और उधर अमला की नौकरी लगते ही श्रीपाल ने कोशिश कर-करा के अपना तबादला भी मेरठ से दिल्ली करवा लिया था। और अमला तथा टीटू को मेरठ में ही छोड़ कर स्वयं दिल्ली चला आया था।

दिल्ली आकर पहले तो कुछ दिन एक मित्र के यहां टिका रहा। फिर नया मुहल्ला वाला यह कमरा किराए पर मिल गया था।

इस मकान में कई घर हैं। जितने कमरे हैं, उतने ही घर। नीचे के तल्ले में हैं चार। श्रीपाल के दाहिनी ओर स्टोरकीपर शिव-दयाल का, सामने मुकुट बाबू का, जिसमें शीला है और उसके साथ ही सरदार हुकुमसिंह का, जिसमें प्रीतो भी है। यानी सरदार जी की बेटी जो एक मिडिल स्कूम में हैडमिस्ट्रेस है। जवान है। अविवाहिता है। शीला की सहेली है।

शीला रेल मंत्रालय में क्लर्क है। पच्चीस के आसपास है। शक्ल-सूरत की भी खासी है। नौकरी के साथ ही पढ़ाई भी चला रही रही है। इस साल एम० ए० हिन्दी का फार्म भरा है। श्रीपाल भी, यूं तो बैंक में काम करता है, पर हिन्दी में एम० ए० है।

...एक दिन लायब्रेरी से लौटते समय दोनों की मुलाकात हो गयी तो फार्मल नमस्ते-नमस्ते के बाद कुछ इधर-उधर की बात-चीत भी हुई थी। शीला ने अपनी पढ़ाई के बारे में चर्चा करते समय ज़रा हिचकते हुए पूछ लिया था, "कभी-कभी कुछ मदद दे सकेंगे?" तो इस पर श्रीपाल ने कहा था, "जी हाँ, क्यों नहीं! जब कभी कोई दिक्कत हो, निःसंकोच आ सकती हैं।"

और उस दिन एक ही बस में वे लोग चढ़े और साथ ही साथ बैठ गए। श्रीपाल ने आइस-फैक्ट्री के दो टिकट लिये। शीला ने चाहा कि पैसे स्वयं दूं। पर श्रीपाल पहले ही कण्डक्टर की ओर नोट बढ़ा चुका था। शीला खिड़की की तरफ बैठी थी, बस खचाखच भरी हुई थी। स्टैंडिंग की क्षमता से अधिक लोग छत के राड पकड़े लटके खड़े थे।

काश्मीरी गेट के बस स्टाप पर कुछ लोग उतरे, कुछ चढ़े। गोद में बच्चा लिए एक महिला करीब ही आ खड़ी हुई तो श्रीपाल ने उठ कर उसे बैठने की जगह दे दी। और स्वयं राड पकड़कर पास ही खड़ा हो गया। उसे अपने हाथ में चमड़े का पाउच सम्हालने में दिक्कत महसूस हो रही थी। शीला ने हाथ बढ़ा कर कहा, "लाइये, पाउच मुझे दे दीजिये।" श्रीपाल ने पाउच शीला को थमा दिया।

दिसम्बर का महीना था। छः बजे ही काफी अन्धेरा छा जाता। बस के भीतर लाइटें जल रही थीं। शीला की सीट के ऊपर जलने वाली गोल-गोल दूधिया-सी रोशनी का प्रकाश कुछ इस ऐंगल से उसके मुंह पर पड़ रहा था कि शीला के सामान्य नक्श काफी तीखे लगने लगे। रंग तो साफ था ही, पर रोशनी में और निखर आया था। श्रीपाल ने उस समय जो शीला की उम्र का अन्दाज़ लगाया तो उसे अपने पहले के अनुमान में से कई वर्ष घटाने पड़े। हालांकि इस गलत-फहमी का काफी श्रेय शीला के मझौले कद और इकहरे बदन को भी

जाता था ।

बस की छत को छूते-से खड़े छः फुटे श्रीपाल को अपने सामने सिमटी बैठी शीला एक गुड़िया की मानिन्द लग उठी । और शीला की जांघों और किताबों के बीच पड़ा चमड़े का पाउच बार-बार श्रीपाल की निगाहें खींच रहा था । एक बार तो वह पाउच के चमड़े के रूप में अपने हाथों की कल्पना कर के रोमांचित महसूस कर उठा ।

और फिर उस शाम घर पहुँचने के भी काफी देर बाद तक श्रीपाल को अपना पाउच बराबर गरम लगता रहा । वह रात भर अपने कमरे में पड़ा-पड़ा सोचता रहा कि शीला के व्यक्तित्व में एक इस किस्म का नमक है जो सम्पर्कों को स्वादिष्ट बना देगा । मुझे तो अब तक नारी के फीके और ठण्डे सम्पर्कों का ही बकबका-सा स्वाद मालूम है । मगर शीला के साथ आज जो क्षण बीते हैं, कितनी गरिमा थी उनमें ! और एक अमला भी थी । हुँ !

उस रात श्रीपाल को रात भर ठीक से नींद नहीं आ सकी थी । बीच-बीच में झपकी-सी आ भी जाती तो बेतरतीब सपनों का सिलसिला-सा शुरू हो जाता । कई सौम्य गम्भीर चेहरे...छाया मूर्तियां ....मस्तिष्क के घाव...छायाओं का प्रत्यावर्तन और जाने कैसे-कैसे चित्र बनते-बिगड़ते रहे थे सपनों की कैनवस पर !

आंगन में कैरम खेलने वाली टोली में बाज़ी की हार-जीत का शोर मच उठा है । शीला की डांट सुनाई पड़ी है, "क्या हल्ला मचा रखा है ? आराम से खेलो न !"

श्रीपाल का तन्द्रा भी भंग हो गयी है । अखबार के पन्ने की आड़ कर के अपने कमरे में लेटा-लेटा ही शीला को देखने लगा है । एक

किताब में से कुछ नोट्स ले रही है। पास ही बैठी निम्मो अभी तक कढ़ाई का काम कर रही है। मांजी आटा मल रही हैं। मुकुट बाबू घूम कर लौट आये हैं। आंगन में बच्चों के पास ही पीढ़ा डाल कर धूप सेंकने लगे हैं। रिटायर्ड आदमी हैं। साठ को छू रहे हैं।

अभी-अभी प्रीतो आ कर शीला से कोई किताब मांग कर ले गयी है। उपन्यास पढ़ने का बड़ा शौक है प्रीतो को। उस दिन फंक्शन में श्रीपाल से भेंट हुई थी तो उसने कहा भी था : "भाई साहब, आपके पास कोई अच्छा-सा उपन्यास हो तो दीजिएगा।"

फंक्शन वाली शाम की याद आते ही श्रीपाल फिर सो चला है।

...उस शाम प्रीतो के स्कूल के फंक्शन में शीला और श्रीपाल आमंत्रित थे। स्कूल की लड़कियों का ड्रामा जरा लम्बा खिंच जाने से लौटते-लौटते काफी रात हो गयी थी।

स्कूल से निकल कर शीला और श्रीपाल गुरुद्वारा रोड के बसस्टाप की ओर चल पड़े थे। चारों ओर रंग-बिरंगी रोशनियों में जगमगाते साइन बोर्ड। 'बेलगा' रेस्त्रां के जलते-बुझते के लाल-लाल अक्षर...चौराहे की तिरंगी ट्रैफिक-लाइटें...सड़क के दोनों ओर बस स्टेंड...लम्बी-लम्बी क्यू...क्यू में खड़ी स्मार्ट लड़कियां, जिन्हें देख-देख कर श्रीपाल के भीतर रह-रह कर कुछ उभक-भांक-पलट जा रहा था।

चौराहे पर से वे लोग दाएं को मुड़ गए और पैंतीस नम्बर रूट की क्यू में जा लगे, पैंतीस की एक स्पेशल भर चुकी थी। दूसरी के लिए कंडक्टर क्यू में खड़े लोगों को टिकट दे रहा था।

कोने वाली पनवाड़ी की दुकान पर ऊंची ट्यून में रेडियो बज रहा था। सीलोन से फिल्मी गीत आ रहे थे। तरन्नुम के स्वर में कुछ शब्द उड़ आये : 'गम-ओ-इफलास की मारी हुई इस दुनिया में, इश्क ही एक हकीकत नहीं कुछ और भी है'।

श्रीपाल ने अक्सर सुना था यह गीत। कहीं पढ़ा भी था। शायद उर्दू के किसी शायर की रचना थी। और हमेशा की तरह उस समय भी वह व्यंग में मुस्करा दिया, "हुँ! प्रगतिशीलता की झांझ में की हुई नारे बाज़ी।"

इस पर शीला ने पूछा, "कैसे?"

वह बोला, "प्यार भी कोई रोटी, कपड़ा, मकान है?"

शीला ने मुस्करा कर उत्तर दिया, "एक जरूरत तो है। अन्य जरूरतों जैसी ही। सर्वेसर्वा नहीं। और यही इस गीत का अभिप्राय भी है।"

क्यू में शीला श्रीपाल से पहले पड़ती थी। कण्डक्टर उस तक पहुंचा तो उसने दस-दस पैसे के दो टिकट ले लिये। कण्डक्टर आगे बढ़ गया। दिल्ली परिवहन के लम्बे-लम्बे टिकट...पतले से कागज़ पर हिन्दी में 'दि० प०' के साथ छपा था 'अहस्तांतरणीय'।

शीला ने पूछा, "यह तो नाट-ट्रांस्फरेबल का अनुवाद है न?"

श्रीपाल ने कहा, "हां।" और फिर सिगरेट का एक लम्बा कश खींचकर धुंआ छोड़ते हुए पूछने लगा, "अच्छा, शीला जी, आप को स्कूल वाला ड्रामा कैसा लगा?"

शीला बोली, "अच्छा था।"

श्रीपाल ने कहा, "मगर थीम दकियानूसी थी।"

शीला ने पूछा "सो कैसे?"

श्रीपाल ने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहना शुरू किया, "यही कि जीवन की यथार्थता परिवार के संकुचित बाड़े में ही मानकर चलते रहना कुछ..."

शीला ने बीच में टोक दिया, "परिवार की संस्था में ही तो व्यक्ति प्यार की ट्रेनिंग पाता है, श्रीपाल जी! और फिर समाज का एक मजबूत आधार भी तो है यह। अन्यथा क्या ढांचा हो? बताइये।"

श्रीपाल के ओंठ फिर व्यंग में फैल गये. "प्यार को आखिर आप क्या मानकर चलते हैं ? यह कोई ओढ़ी हुई चीज़ नहीं, रूहों की कशिश है। एक नैसर्गिक वृत्ति है : चिरंतन और तीव्र अनुभूति।" श्रीपाल को लगा कि उसका स्वर कुछ स्टेजी-सा हो गया है, और क्यू में के कुछ लोगों का ध्यान अपनी ओर खिंचा पाकर सहसा चुप हो गया।

कुछ देर के बाद शीला ने सहज भाव से कहना शुरू किया, "श्रीपाल जी, कविता की बोली की बात और है। ज़िंदगी की जबान यह नहीं। प्यार को आत्माओं का आकर्षण मानने की लग्ज़री हम एफोर्ड नहीं कर सकते। हमारे आपके लिए तो प्यार आपसी जरूरतों का आकर्षण है आत्माओं का नहीं। क्योंकि हमारी जिंदगियों में जरूरतें आत्माओं से ज्यादा महगी होती हैं ?"

"जरूरतों से आपका अभिप्राय ?" श्रीपाल का स्वर काफी मंद था।

"सब तरह की। तन की, मन की।" शीला ने धीरे-धीरे पर शब्द टिका-टिका कर कहा।

श्रीपाल ने पूछा, "तो फिर मन की जरूरतों वाली बात क्या आत्मिक आर्कषण से परे की चीज़ है ?"

शीला बोली, "बिल्कुल, बल्कि दूसरी नसल की।"

श्रीपाल ने पूछा, 'कैसे ?"

वह कहने लगी, "हालात के मुताबिक जिस तरह हमें अपने तन की जरूरतें बदलनी पड़ती हैं और हम बदल लेने के आदी हैं ठीक उसी प्रकार मन की भी। जब कि आत्मिक आकर्षण नाट-ट्रांस्फरेबल डाकूमेंट की तरह का माना जाता है : अहस्तांतरणीय, अपरिवर्तनीय, और जाने क्या-क्या ! अजीब लच्छेदार लफ्फाज़ी के साथ उसका ज़िक्र किया जाता है, है न ?"

श्रीपाल मुस्करा दिया, "हुँ ! वैरी इंटरेस्टिंग हाइपोथीसिस।"

इस बीच पचीस नम्बर की एक बस पीछे से आ गयी थी। कुछ सवारियाँ ले गई तो आगे से क्यू जरा सरकने लगी।

शीला और श्रीपाल भी अब शेड के नीचे आ पहुँचे। कुछ देर तक तो वे लोग खामोश रहे फिर श्रीपाल को गोया सहसा कुछ याद आ गया हो, इस अन्दाज़ में पूछ डाला, "अच्छा, शीला जी, तो फिर विवाह को क्या माना जाय ?"

शीला ने दो-चार क्षणों में ही सोच कर उत्तर दे दिया, "एडजस्ट-मेंट। समंजन।"

श्रीपाल ने कहा, "बस ?"

शीला से निश्चयात्मक स्वर में दुहरा दिया, "बस।"

श्रीपाल ने पूछा, 'और यदि एडजस्टमेंट न हो तो ?"

शीला कहने लगी, 'एडजस्टमेंट होता तो अवसर नहीं है, किया ही जाता है। और करने पर अवसर हो ही जाता है, श्रीपाल जी !"

इस बात पर श्रीपाल हँस पड़ा, "और इस पर अगर मैं कहूँ कि आप इस समय किताबी जबान बोल रही हैं, तो ?"

"यानी ?"

"यानी पहली तो बात यही कि आप की अभी तक शादी ती हुई नहीं, आप इस बारे में साधिकार कुछ कह ही कैसे सकती हैं ?"

शाला ने कुछ हैरान होकर श्रीपाल की ओर देखा। एक बार ता मन हुआ कि प्रसंग टाल जाऊँ। फिर एक दम गम्भीर होकर कहने लगी, "मेरी शादी..."

"भाई साब, आगे बढ़िए न !" क्यू में खड़े पीछे के व्यक्ति ने श्रीपाल से कहा।

बस आ चुकी थी और आगे की लाइन काफी सरक गयी था।

बातचीत वहीं रह गयी। वे लोग चुपचाप बस में जा चढ़े। स्टैंडिंग में ही जगह मिली। छत की राड पकड़ कर श्रीपाल ने शीला की ओर देखा। वह पास वाली सीट की पुश्त की ही टेक लिये खड़ी थी। थोड़ी देर पहले के उसके अधूरे वाक्य और अजीब-से स्वर ने श्रीपाल के भीतर एक आलकसी किस्म की उत्सुकता जगा दी थी। अवसर पाते ही फिर बात छेड़ दी, "हां तो, आप कुछ कह रही थीं न ?"

"अं !..." शीला चौंक-सी पड़ी, "हाँ-हाँ, बतला रही थी कि... कि..."

और याद की इस कतरन से श्रीपाल का ध्यान फिर सामने वाले कमरे में बैठी शीला की ओर खिंच आया है। वह अपने कमरे में लेटा-लेटा ही महसूस करने लगा है कि शीला इस समय भी उसके साथ ही बस में खड़ी हुई है और उसे अपनी शादी की बात बतला रही है। और उस दिन की तरह श्रीपाल आज भी भीतर कहीं सिहर उठा है।

उस दिन के बाद से शीला और उसके घर के लोगों को देखते समय श्रीपाल अपनी दृष्टि में कुछ विचित्र सा परिवर्तन महसूस करने लगा है।

परिवर्तन इस मानाकर कि पहले वह उन लोगों में के परस्पर जो रिश्ते समझता रहा, वह अब बदल गये हैं।

बच्चों की टोली के पास आंगन में पीढ़ा डाले बैठे मुकुट बाबू को देख कर अब श्रीपाल को इस बात की स्पष्ट चेतना है कि यह शीला के ससुर हैं, पिता नहीं।

स्टोव जलाती हुई मां जी को शीला की सास के रूप में देख कर भी श्रीपाल को अब कुछ अजीब-अजीब सा लग रहा है। शीला के पास

बैठी कसीदा काढ़ती हुई निम्मो, जिसे पहले वह शीला की छोटी बहन समझता था, उस पर अब ननद का मुखौटा लगाना पड़ता है। आंगन में कैरम बोर्ड के गिर्द बैठे हल्ला-गुल्ला मचाते हुए केदार और बिल्लू पर अब भाइयों की जगह देवरों के रूप आरोपने पड़ते हैं। और शीला ! उसे देखते समय भी तो अब इस एहसास को झटकना पड़ता है कि वह किसी लड़की को नहीं, एक औरत को देख रहा है, जो पिछले पाँच बरस से विधवा है।

श्रीपाल ने नयी सिगरेट सुलगा ली है और पड़े-पड़े ही एक वाक्य सूझ पड़ा है कि समाज व्यक्ति नहीं, प्लास्टिक के खिलौने गढ़ता है, जिसे जब जैसा चाहा बना लिया।

और फिर इस बिचार के साथ ही श्रीपाल को शीला की एक बात याद हो आयी है: 'मैंने इस घर में बहू का घूंघट उतार कर बेटी की चूनरी ओढ़ ली है।'

श्रीपाल सोचने लगा है: 'हम अपने व्यक्तित्वों पर नकली नकाबें ओढ़ कर क्यों चलते हैं?'

आंगन में कैरम खेलते बच्चों की टोली में से एक ऊँची आवाज उठ आयी है, "क्वीन ! बिल्लू, क्वीन ! रिबाउंड लगाओ !"

बिल्लू ने स्ट्राइकर को ऐंगल पर साध कर रिबाउंड लगा दिया है। क्वीन पाकेट हो गयी है।

"वेल प्लेड।" बिल्लू का साथी जोश में कह उठा है।

केदार गुस्से में कह रहा है, "कवर तो करो।"

स्टोरनी के बेटे ने एक गोटी की ओर इशारा करके राय दी है, "इसे लो, बिल्लू। श्योर है !"

बिल्लू फिर ऐंगल साधने लगा है।

शीला, मां जी और निम्मो अपने कमरे में हैं। बाबू जी उठ कर नहाने चले गए हैं। और श्रीपाल को शीला के साथ हुई अन्तिम भेंट

की याद हो आयी है :

श्रीपाल की किसी बात पर शीला ने कहा था, "व्यक्ति तो स्वयं बनता है श्रीपाल जी, बनाया नहीं जाता।"

श्रीपाल विद्रूप भाव से मुस्करा कर कह उठा था, "हठ की हड्डियां चबाना ही यदि व्यक्ति बनना है तो बात और है।"

"क्या मतलब ?"

"एक बात पूछूं ?"

"पूछिए !"

"बुरा तो नहीं मानेंगी ?"

"नहीं, कहिए।"

"आप इतने बरस से यह जो ज़ब्त की जिंदगी जी रही हैं न कुरबानी जरूर है यह, वाह-वाही भी मिल सकती है आपको; मगर क्या आप अपने सीने पर हाथ रख कर पूरी ईमानदारी से यह कबूल सकती हैं कि आपने अपने भीतर की कितनी कोमलताओं को पथराया है ? अपने जज़बात को कितना ज़हर पिलाना पड़ा है आपको, इस बात का अन्दाज़ा लगाया है कभी ?"

इस पर शीला ने बहुत ही धीमे स्वर में कह दिया, "यह ज़हर तो शंकर को भी पीना पड़ा था श्रीपाल जी।"

"ओह ! तो यह बात है।"

"क्या ?"

"यही कि इस क्षेत्र में शंकर का आदर्श रख कर चलना चाहती हैं।" फिर एकैक जाने कैसी मुद्रा में हो आया कि आवेश में शीला का हाथ पकड़ कर जरा क्रुद्ध स्वर में बोल उठा, "मगर तुम इनसान हो शीला ! देवत्व ओढ़ कर इस धरती पर नहीं चल पाओगी।"

शीला ने श्रीपाल के मुँह से पहली बार जी-विहीन सम्बोधन सुना था। मार्क किया। और फिर एक झटके के साथ अपना हाथ छुड़ा कर क्रोध में भरी-बिफरी चली गयी थी।

श्रीपाल को आज भी वह झटका अपने बदन में कहीं झनझनाता सा महसूस हो रहा है। उस दिन से अब शीला न तो उसके पास पढ़ने ही कभी आयी है न राह चलते ही कहीं भेंट हुई है। एक ही मकान में रहते हैं। आमने-सामने के कमरे हैं। पर शीला के लिए जैसे श्रीपाल वाला कमरा कोई दीवार मात्र है।

आंगन में कैरम खेलते बच्चों की टोली में शोर मच उठा है।

"नहीं हुई ! नहीं हुई !" केदार उत्साह में भर कर बोल उठा है।

क्वीन कवर करते समय बिल्लू का निशाना ज़रा चूक गया था। गोटी की जगह स्ट्राइकर ही पाकेट में जा गिरा है।

और क्वीन कवर नहीं की जा सकी है। ●

सुलह का शेक-हैण्ड

"क्यों जी, यही सब है वह, जिसके पीछे सारा वक्त खराब करते रहते हो ?" मैंने जरा मुड़कर देखा। मेरी चार-फुटी पत्नी अमला हाथ में एक कहानी-पत्रिका पकड़े क्रोध में भरी खड़ी मुझसे मुखातिब थी। लगा, जैसे सामने दीवार पर चिपकी छिपकली किसी भुनगे पर झपटने जा रही हो।

"अं...क्या बात है भई ?" मैंने अपने सामने की खुली किताब पर से निगाह हटाते हुए पूछा।

"मैं पूछती हूं, इन्हीं को तुम कहानियां कहते हो ?"

"क्यों ? कहानियां नहीं हैं क्या ?"

"ईंट-पत्थर ! और देख ली है तुम्हारी भी करतूत।" अमला का इशारा उस पत्रिका में छपी मेरी कहानी की ओर भी था, फिर उसने उस पत्रिका की सारी कहानियों की आलोचना में जो वाक्य कहा, उसे मैं आधुनिक कथा-साहित्य पर दादी-नानी कथा-काल के किसी आलोचक का रिमार्केबल कमेंट मानने पर मजबूर हो गया। एक ही वाक्य में इतना तगड़ा सजेशन ! वह बोली, "इस पत्रिका की सब कहानियां अधूरी हैं।"

श्रौर तब मुझे यह लगा कि मेरी अलमारी में पड़ी हुई मेरी डिग्रियाँ, मेरे सामने खुली पड़ी किताबें श्रौर पत्रिकाश्रों में छपी मेरी कहानियां सब की सब मेरी खिल्ली उड़ा रही हैं।

अगस्त की गर्मी में भी रात तक मेरी नस-नस सुन्न हुए जा रही थी। गरमाई की जरूरत महसूस हुई तो मैंने श्रमला से एक कप चाय की फरमायश की।

वह चाय बनाने चली गई श्रौर मैं फिर से अपनी किताब में गड़ गया। रसोईघर से स्टोव की घर्र-घर्र की ताल पर मेरे विचारों की लय उतार-चढ़ाव पर फिसलने लगी। मगर...

छपाक...

छिपकली मेरी खुली किताब पर श्रा गिरी।

लय टूट गई।

एक के बाद एक जाने कितने भुनगे उस छिपकली ने मेरी किताब पर से सटक लिए।

''हिश श...'' मेज पर जोर से हाथ मार कर मैंने मुंह से श्रावाज की। वह भाग गई श्रौर फिर से दीवार पर जा चिपकी।

"बन गई है बाबा, ला रही हूं। जरा-सा भी तो सब्र नहीं। ऐसा भी क्या नशा टूटा जा रहा है चाय के बिना..."

स्टोव की घर्राहट ने श्रमला के गुर्राए स्वर के कई शब्दों को तो अपने में डुबो लिया था, पर चाय की प्याली लिए जब वह कमरे में घुस रही थी तो उसके स्वगत-भाषण का जो श्रंश मुझ तक पहुंच पाया, वह था, "दिन रात ये मुई किताबें ही हमारे पल्ले पड़नी थीं। किसी बखत भी तो ये सौतें टलती नहीं। बिट्टू कल से बुखार में पड़ा है। यह नहीं कि जरा दवादारू ही ले श्राते, श्रौर नहीं तो जरा थपक कर सुला ही देते, मैं सारा काम निबटा लेती। ऊपर से श्राधी रात होने को श्राई है श्रौर इन्हें चाय..."

दीवार पर चिपकी छिपकली, जो अब तक दम साधे पड़ी थी, एक दम झपटी और एक मोटा-सा भुनगा मुंह में दबोच लिया।

मेज पर पड़ी चाय की प्याली धुआंती रही। उस धुएं ने किताब पर के कुछ भुनगों को दीवार पर धकेल दिया था।

थोड़ी देर के बाद चौका-वर्तन समेट कर अमला जब बच्चों को सुला चुकी, तो दिन के धोए-सुखाए कपड़ों पर प्रेस करने लगी। प्रेस ने इतना लोड खींच लिया कि मेरे पढ़ने के टेबल-लेम्प की रोशनी मद्धिम हो गई। मैंने कुछ शिकायत भरी मुद्रा में चेहरा उठाया तो बोली, "अब बस भी करो न! इतने भुनगों में तुम लिखते-पढ़ते कैसे हो?"

कपड़े प्रेस कर चुकी तो उसने अपनी साड़ी के पल्लू से कुछेक भुनगों को भगाते हुए मेरे सामने की किताब बंद कर दी।

मैं जम्हाई लेकर कुर्सी से उठा और बिस्तर पर जा लेटा। अमला ने टेबल लैम्प का बटन दबा कर रोशनी बुझा दी।

मेज पर अंधेरा पाकर कुछेक भुनगे दीवाल पर लटके कलैंडर से टकरा कर मेरे बिस्तर पर आ गिरे। मेरी टाँगें दबाती हुई अमला ने अंधेरे में ही आंचल से फटकार कर उन्हें पलंग के नीचे गिरा दिया।

सबसे ऊपर की मंजिल वाले राम भाई साहब की लड़की नृत्य का रियाज़ कर रही थी। बीच-बीच में किसी तोड़े का कोई टुकड़ा ऐसी झंकार उड़ा देता जो सबसे निचले तल्ले के मेरे कमरे तक स्पष्ट सुनाई पड़ जाता।

पांव दबाती हुई अमला से जब कोई बात करने को मुझे नहीं मिली तब मैंने कहा, "गुड्डी काफी अच्छा डांस सीख गई है। घुंघरूओं की आवाज से तो लगता है कि..."

"यह घुंघरूओं की आवाज थोड़े ही है!"

"तो?"

"यह तो भाभी कनस्तर में से तेल निकाल रही है।"

"तेल निकाल रही है ?"

"हां-हां, वही बड़ी कीप नहीं होती, जो ऊपर-नीचे करते हुए खच-खच की आवाज देती है। हमारे यहां भी तो है। मिट्टी का तेल निकालती नहीं हूं रोज ? एक ही बार बड़ी बोतल भर के रख लेती हूं ; घड़ी-घड़ी कनस्तर में से निकालने की जरूरत नहीं पड़ती।"

अमला से उस समय बहस करने को मन नहीं हुआ। बहस करता तो उसे उसके बहरेपन की याद भी दिलानी पड़ती, जोकि उसे नागवार गुजरती। वर्षों से उसके कानों में कोई विकार आ गया था जिसके कारण श्रवण शक्ति काफी सुस्ता गई थी। पर वह अपनी इस कमी को खुलकर स्वीकारने में सदा ही झिझकती है।

सोचा, उसे झेंपाने से क्या लाभ ? चुपचाप पड़ा रहा। इतने में घुंघरूओं की झनकार का एक और झटका खाकर सोच के सूत झन्ना उठे : घुंघरूओं की आवाज...कैरोसीन के कनस्तर की आवाज... लीवरयुक्त कीप को ऊपर-नीचे करते हुए अमला के हाथ...कीप के मुंह से कनस्तर का निकलता हुआ कैरोसीन आयल...अमला की बोतल में चू-ढल रहा तेल...

...अमला के लिए मेरे तेल का इससे बड़ा उपयोग और क्या हो सकता है कि वह स्टोव में जले, रोटी-दाल पकाने में काम आए !

...अमला मुझे घुंघरूओं की आवाज सुनने देना नहीं चाहती। वह चाहती है कि मेरे कान भी उसी की तरह बधिर हो जाएं और सिर्फ कैरोसीन के कनस्तर की आवाज सुनें। नहीं तो रोटी-दाल कैसे पकेगी ?

मुझे गुम सुम-सा पाकर अमला टांगें दबाना छोड़कर मेरे पास ही बिछ-सी गई। मेरे बालों में अपनी अंगुलियों से कंघी-सी करती हुई धीमे-धीमे, पर चाशनी-पगे स्वर में कहने लगी, "क्या बात है ?"

"अं...नहीं तो।" और फिर मैं नार्मल हो आया।

"कुछ बात करो न !" अमला ने दुलार-भरे आग्रह से कहा और

मुझे बिलकुल अपने साथ सटा लिया।

अमला के शरीर की गरमाहट...अन्धेरा कमरा...घुंघरूओं की झनकार...

अन्धेरे में ही दीवार पर छिपकली की झपट की आवाज हुई। किसी बचे-खुचे भुनगे पर लपकी होगी।

और फिर उस रात मेरे बिस्तर पर कोई भुनगा नहीं बचा था।

आज रात मैं फिर अपनी कुर्सी में धंसा पड़ा सामने मेज पर खुली किताब में बन्द हूँ। भुनगे अक्षरों को ढक रहे हैं। हाथ से हटा देता हूँ। फिर-फिर कूद आते हैं। कुछ को मसल भी डाला है, पर इतने हो आए हैं कि...

—उफ! कम्बख्त पिद्दी-सा तो है पर किस बुरी तरह से काट गया! सुई-सी चुभ आई है बांह पर। खुजाते-खुजाते फफोला उभर आया है। बड़ी जलन हो रही है।

भूख भी सता रही है। खाना खाने के लिए बाज़ार जाते आलस आ रहा है। अमला पिछले दस-बारह दिन से मायके गई हुई है। वर्षों बाद बुलावा आया था। खुशी-खुशी भेजा था। सोचा था, कुछ दिन निर्विघ्न पढ़-लिख सकूंगा।

चाय का एक कप ही मिल जाए, तो इस समय कुछ देर और पढ़ लूं। पर चाय भी तो...

—अरे बाप रे! क्या मुसीबत है! जालिम खाल ही तो खींच कर ले गया। पूरी बांह फफोलों से भर गई है। उई! गरदन तक दबोच ली मरदूदों ने! जाने कहां-कहां से आ मरे हैं इकट्ठे होकर, तोबा, तोबा..."

—उठूं भई, कुछ खा-पी आऊं। लांड्री से कपड़े भी तो लाने हैं। कल को पहनने के लिए धुला कपड़ा ही नहीं रहा कोई। कालेज में मैले कपड़े पहन कर जाऊंगा तो स्टूडेंट्स क्या सोचेंगे, कैसा ईडियट लैक्चरर है।

मगर जेब टटोलता हूं तो सिर्फ एक रुपया कुछ पैसे ही बचे हैं। अमला के जाने के बाद तनख्वाह मिली थी और दस दिन में ही...

कमरे में निगाह घूम गई है। मैले कपड़ों का ढेर जहां-तहां कुर्सी की बाहों पर, खूंटियों पर। ऐश ट्रे नक्के तक भरी पड़ी है। नीचे फर्श पर जले सिगरेटों के टुर्रे, राख, अधजली तीलियां, चार मीनार के पैकेट, धूल की परतें...

...टेबल पर की किताबें कुछ नीचे गिरी पड़ी हैं। लैम्प के शेड पर जाला लग आया है। भुनगों का ढेर...सामने दीवार पर काफी दूर तक भुनगे ही भुनगे...

और छिपकली भी आज दीवार पर काफी दूर के कोने में चिपकी हुई भुनगों पर लपक रही है। दीवार का मेरे सामने वाला भाग भुनगों से छता पड़ा है।

राम भाई साहब की गुड्डी आज भी नाच का रियाज कर रही है। घुंघरूओं की झनकार आ रही है। भूख जोर मार रही है। लांड्री से कपड़े भी लाने हैं। जेब में सिर्फ एक रुपया कुछ पैसे...

...घुंघरूओं की आवाज में केरोसीन के कनस्तर की आवाज सुनाई देने लगी है। अमला अभी बोतल में तेल निकालकर स्टोव जलाएगी...रोटी पकेगी...चाय की गरमागरम प्याली आएगी...चौका बढ़ाकर मेरे कपड़े प्रेस करेगी। फिर...

फिर मेरे पांव दबाएगी। फिर मेरे पास, मेरे बिस्तर पर...

और फिर टेबल लैम्प बुझ जाएगा। भुनगे हट जाएंगे, जो बचेंगे, उन्हें वह अपने आंचल से उड़ा देगी।

—उ...ओ-हो-हो, अरे, रे ! ये ता एक साथ ही झपट पड़े कम्बख्त ! कुर्ते के भीतर, पीठ और सीने तक घुस आए हैं। मसल मसल कर बुरा हाल हो आया है। सीने पर नश्तर-से चुभ आए हैं।

और मैं दीवार पर दूर एक कोने में दुबकी छिपकली की ओर बड़ी ही कातर दृष्टि से निहार उठा और साथ ही बेचारगी के इस एहसास में पल भर को यूं लगा गोया मेरा छः फुटा व्यक्तित्व छिपकली बन कर दीवार पर आ चिपका है। ●

झील की गहराई

"क्यों जी, क्या हुआ ?" एक स्वर उभरा ।

'अजी कैसे ?" दूसरी आवाज उठी । फिर तीसरी आवाज किसी मोटे गले की थी, "अरे भई, कौने था, कैसा था, कुछ याद पड़ता है क्या ?"

अब बाईं ओर की कोने वाली सीट पर एक मदकची का गुनगुन स्वर निकला, "ओं अं-हं ! अजब मुसीबत है सांब । कैसा जमांना आं गयां । घर सें निकलना ई जुर्म हों गयां । जानें कहां-कहां सें कमबंखत आं मरते एं जेबें तरांशनें : कोई दाद-फरियाद नहीं । कोई पूछने गींछने वाला नहीं इन नालायक के पिल्लों कों।" फिर यह आवाज थकी-सी निकलने लगी और वह मदकची सज्जन जम्हाई लेते हुए बोले, "आं-आं-आं-फं-फं-फं ! अच्छां भई, संबर कर लों ! आं, और क्यां ?" और वह खिड़की के सहारे सिर टिका कर टूल गए ।

इसी तरह एक के बाद एक आवाजें, तरह-तरह टीका-टिप्पणियां सुनाई पड़ती रहीं । रेल फर्राटे भरती हुई चलती जा रही थी । थर्ड क्लास का एक छोटा-सा कम्पार्टमेंट । चालीस-पचास सवारियां बंद बोरों

की तरह लदी पड़ी थीं। राजेश के पास भिच-खिच कर टिकने भर की जगह थी। गर्मी के मारे बुरा हाल हो रहा था। पिछले स्टेशन पर गाड़ी रुकी थी तो उसने पर्स में से पैसे निकाल कर सिगरेट का पैकेट और माचिस खरीदी थी, बस उसके बाद टी.टी. द्वारा टिकट माँगने पर ही उसने जेब में हाथ डाला तो देखा पर्स गायब। टी. टी. तो खैर किसी तरह जान बख्श कर आगे सरक गया था, मगर इन डिब्बे में लदे हम-सफरों की भाँति-भाँति की हमदर्दी भरी बोलियाँ राजेश को ऊबा देने वाली लगने लगी। सोचने लगा, इन का क्या करूं। इन बेतुके सवालों का जवाब दूँ भी या नहीं? और दूं भी तो क्या लाभ?

मगर उन गाड़ी के सफर से ऊबे-थकों को तो हिचकोलों की मार और गर्मी की दोज़खी जलन भूलने के लिए कोई बहाना चाहिए था, सो मिल गया।

अब मेरठ तक का सफर इसी तरह कटेगा—यह सोच कर राजेश मन मारे, मुंह लटकाए बैठा सुनता रहा। कभी-कभी बहुत जोर-जबर करके हां, हूँ कर देता, अन्यथा मौन साधे सिगरेट के धुएँ से अपनी खिन्नता को धुंधलाने की कोशिश करता रहा।

"अजी साब, आप अगले स्टेशन पर पुलिस में रपट दर्ज दरा दें", एक ने राय दी।

राजेश के कुछ कहने से पहले ही एक और ने उत्तर में बोलना शुरू कर दिया, "अजी हटाइए, क्या रखा है रपट-वपट में, खामखाह की फजी-हत मोल लो! एक तो अपनी जेब गई उस पर थाना-कचहरी की तवालत भुगतो सो उस पर अलग नावां फूंको। हाथ-पल्ले कुछ लगने का नहीं।"

इस सलाह पर एक ठेठ देहाती बुजुर्ग ने अपनी पीलियामारी सफेद मूंछों को उछाल-उछाल कर पोपले दंतविहीन मुंह से कहना आरम्भ किया, "बिल्लकुल्ल सोलह-आने पाव-रत्ती नेक मसविरा है रे बाबू जी! थारा जो नुकसान हुआ बस उसी में अपणे कड़वा घूंट भर लो। बाकी तम जानो थाणा-पुलिस में तो ख्वारी ई ख्वारी है। अपणी सुनाऊं हूं लो! सौ की कटी जेब। थाणें में कराण गए रपट तो सवरे करें ई न।

बड़ा ई जो कहा-सुणा तो भई कर ली। अच्छा! अब बुलाया कचहरी। एक के बाद एक जाणों दसियों तारीखें डाली। और भई तुम जाणो बेर-बेर गाँव से सहर आणों-जाणों में चोखा तो लगा नांवां और दिन-दिन भर अदालत में बजाई हाजिरी। पुलिस ने गवाह लिए फोड़, मुकदमा खारिज। अब करलो क्या करो हो इनका! सो भाई मेरे, यो है थारी पुलिस-उलिस।"

उन वयोवृद्ध देहाती सज्जन की बात पर राजेश के पास ही बैठा एक युवक जो किसी कस्बे के प्राइमरी स्कूल का मास्टर मालूम पड़ता था, बोल उठा, "तुम्हारे साथ तो चौधरी साहब यहीं तक टल गई, गनीमत समझो! उरे सुनो! हम बतावें तुम्हें। जेब कटी और कटते ही, चल गया पता। भाग-भूग के जैसे-कैसे कुछ लोंडों ने उसे जा थाम्मा। रुपये थे पूरे साठ। तनख्वाह मिली थी। जारिया था गांव। मोटर के अड्डे का किस्सा है। अच्छा जी! रुपये तो हमने लिये उससे ले और उस जेब तरास को झाड़ फटकार के जो मोटर की तरफ चलने को हुआ तो एक भलेमानस ने राय दी, अब सामने ही थाना है, पकड़के ले चलो ससुरे को, रपट दरज कराओ। पहुँच गए साहब थाने। थानेदार ने सुना किस्सा तो धरवा लिए साठ के साठ हमारी जेब से। रपट कर ली दरज। रसीद थमा दी हाथ में। और जनाब बाद में महीनों बस यूं समझो कोई बीसियों पेशियां पड़ीं। एक पेशी मे मैं जरा देर से कचहरी पहुँचा। मुकदमा पेश हो चुका था। लगवादी कमबख्तों ने गैर-हाजिरी। और तीसरे ही दिन मेरे नाम के वारन्ट लिकड़ गए। लो भई, वह जेबतरासी वाला मुकदमा तो जाने कब खारिज हो गया उलटे हम महीनों बंधे-बंधे फिरे, पचासों रुपए लग गए और आखिर सौ रुपए जुरमाना की सजा हमें सुना दी गई। सो बाबू जी यह रपटबाजी का चक्कर हमें तो कई सौ में पड़ा और थुक्का-फजीहत लाहे की।"

राजेश इस बीच इन लम्बी-चौड़ी आप-बीतियों की शृंखला से बड़ी असुविधा अनुभव करने लगा था। एक तो पूरी-की-पूरी तनख्वाह

चली जाने का अफसोस था, दूसरे इन सब लोगों की हमदर्दी और आप-बीतियाँ उसे बार-बार उस नुक्सान का एहसास बढ़ा-चढ़ाकर महसूस करवा रही थीं। वह धर्म-संकट में फंस गया। न तो उन लोगों को बाते करने से रोक-टोक सकता था, न अपने आपको किसी तरह दिलासा दे पा रहा था।

इतने में किसी ने कुछ पूछ लिया, "जा कहां रहे हैं बाबू जी ?"

"अपनी ससुराल।" राजेश ने संक्षेप में ही उसे टाल दिया वरना डर था कि बातचीत कहीं तूल न पकड़ जाये।

राजेश बड़ा ही संकोची स्वभाव का व्यक्ति था। विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो चुका था मगर दुनियादारी के नाम पर अभी वह प्राइमरी का छात्र ही था। साल भर हुआ था शादी को। पत्नी महीने भर से मैके आई हुई थी। उसे लिवाने ही वह जा रहा था। कल ही वेतन मिला था। पूरे पांच सौ रुपए जेब में थे। इस समय सिगरेट का पैकेट और कुछ आने की खरीज ही बस उस की जेब में बची थी।

कश्मीर की डल-झील की सीनरी वाला प्यारा-सा चमड़े का पर्स था जो उसे एक मित्र ने भेंट किया था। आज वही पर्स राजेश के पाँच सौ रुपए की भेंट लेकर निकल गया था। उसी पर्स में दिल्ली से मेरठ तक का टिकट भी था।

राजेश इसी उधेड़बुन में था कि पूरे महीने का खर्च कैसे चलेगा; बिना टिकट जा रहा हूं; कहीं पकड़ा गया तो क्या होगा; पत्नी को क्या कहूंगा; ससुर साहब से जिक्र करना ठीक रहेगा या नहीं; आदि।

इसी बीच उसका स्टेशन आ गया और अपने डिब्बे के तमाम हमदर्दों से निगाहों ही निगाहों में विदा लेकर उतर जाना पड़ा।

प्लेटफार्म पर आकर वह सीधा जी० आर० पी० के आफिस में चला गया। पूछा, "दारोगा जी कहां हैं ?"

"क्वार्टर में गये है।" वहाँ बैठे एक सिपाही ने उत्तर दिया।

इस बीच प्लेटफार्म से आता हुआ रेलवे पुलिस का एक अन्य

सिपाही भीतर आया। उसने देखते ही राजेश को पहिचान लिया और एक जोरदार सलाम दाग दी। और फिर बड़े विनम्र स्वर में पूछने लगा, "आप कब तशरीफ लाए साहब ?"

"अभी, इसी ट्रेन से" राजेश ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

"तो चलिए न, क्वार्टर चलिए। दारोगा जी अभी-अभी तो गए हैं। आइए हजूर !" कह कर तुरन्त ही वह सिपाही बड़े अदब से राजेश के साथ चलने को मुड़ा। राजेश उसके साथ जी० आर० पी० आफिस के पिछवाड़े वाले द्वार की राह स्टेशन से बाहर निकल गया। वह चाहता भी यही था क्योंकि टिकट जो नहीं था। प्लेटफार्म की राह टिकट-गेट से गुजरने में उसे झिझक हो रही थी।

बाहर आते ही उसने सिपाही को लौटा दिया और दारोगा जी के क्वार्टर की ओर चल दिया।

दूसरे वाला सिपाही जब लौट कर आफिस में गया तो पहले बैठे सिपाही ने उससे पूछा, "कौन थे ?"

"अरे दारोगा जी के दामाद हैं भाई," दूसरे सिपाही ने उत्तर दिया और प्लेटफार्म की ओर चल दिया।

मुश्किल से पचास कदम पर ही रेलवे पुलिस के दारोगा जी का क्वार्टर था। बाहर वाले कमरे की चिक उठाकर घुसते ही राजेश ने ससुर साहब को एक कुर्सी पर बैठे हुए देखा। दरवाजे की तरफ उन की पीठ थी। सामने एक छोटी-सी मेज पर कुछ सामान बिखरा पड़ा था। दो आदमी उनके सामने जरा हट कर खड़े थे। उनमें से एक तो राजेश को देखते ही चौंक उठा। राजेश उस की घबराहट को लक्ष्य करके जरा हैरान भी हुआ। पर उसने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया।

इतने में दारोगा जी का मोटा स्वर सुनाई पड़ा। वह कुछ नोट हाथ में लेकर सामने खड़े व्यक्तियों की ओर बढ़ा रहे थे—"लो भई, अपना-अपना बांट-बूंट लो !"

इसी दौरान ससुर साहब की निगाह दामाद की ओर मुड़ गया।

हाथ बीच ही में रुक गया और कुर्सी से उठते हुए बोल उठे, "अ-क्खा-आ !"

और लपक कर दारोगा जी दामाद के पास उठ आए। फिर कंधे पर हाथ रख कर थपथपाते हुए कहने लगे, "आप ने तो आने की खबर ही नहीं दी !" और फिर कंधे पर हाथ रखे-रखे ही वह राजेश को साथ ले, बीच वाले दरवाजे का पर्दा उठा कर भीतर ले गये।

मगर मेज़ के पास से गुजरते समय उस पर रखे चार-पांच बटुओं में से राजेश ने अपनी हल-झील की सीनरी वाला पर्स पहचान लिया था।

'झील की गहराई' का एहसास होते ही राजेश को लगा कि वह अपने सब कुछ समेत उस में डूबता जा रहा है। ●

अन्तिम समझौता

डाक्टर पाल अपने बेटे और बहू को मेहमानों से परिचित कराते हुए इतने खुश दिखाई पड़ रहे थे कि उन के सम्पर्क के लोगों को स्मरण नहीं, उन्होंने डाक्टर साहब को इतना प्रसन्न पहले कभी देखा हो।

डाक्टर की कोठी पर आज यूनिवर्सिटी के प्रोफेसरों और नगर के मान्य व्यक्तियों की एक शानदार पार्टी का प्रबन्ध था। उनका छोटा बेटा इंगलैण्ड से इन्जीनियरिंग की उच्च शिक्षा पूरी करके अपनी नवपरिणीता के साथ लौटा था। ब्रिस्टल में ही उसने एक भारतीय छात्रा के साथ विवाह कर लिया था। वह भी भारत सरकार की छात्र-वृत्ति पर मनोविज्ञान पढ़ने गई हुई थी।

यूनीवर्सिटी में साहित्य के विभागाध्यक्ष डाक्टर पाल पचास को छू रहे थे। पत्नी को मरे एक अरसा हो चुका था। दो बड़े बेटे और एक बेटी अपने-अपने घर बसा चुके थे। छोटा अभी-अभी गृहस्थी की देहलीज पर चढ़ा था। इसी नगर में उसकी नौकरी भी तय हो चुकी थी। डाक्टर के एकांत जीवन में फिर से रौनक हो आई थी।

दो-दो, चार-चार की टोलियों में खड़े बतियाते-खाते मेहमान, सरविस करते-घूमते बैरे; लान के एक कोने में पड़े रिकार्ड चेंजर पर आरकेस्ट्रा की डूबती-उभरती एक पश्चिमी धुन और कोरिडोर में उगे चम्पा की मादक महक...

परिचय की औपचारिकता से निबट कर डाक्टर ने एक काफी का कप ले लिया और अपने अंतरंग मित्र भीष्म के साथ बातें करते हुए एक कोने में आ गए।

आरकेस्ट्रा की धुन यहाँ कुछ दूर पड़ गई, मगर चम्पई महक अब हर साँस के साथ आने लगी।

'पाल !" भीष्म ने काफी का एक गरम घूंट भर कर साँस की आवाज में कहा। डाक्टर ने ध्यान नहीं दिया मगर अपनी बाईं बाँह भीष्म के बाएँ कन्धे पर रखे हुए, कप-प्लेट सहित बाएं हाथ को पूरी लम्बाई तक सामने बढ़ा कर बेतरह ठहाका लगा दिया।

"क्या हुआ पाल ?"

"वो देखो भीष्म ! हा-हा-हा-हा...हाउ नाटी...हो-हो-हो-हो !"

भीष्म भौंचक-सा डाक्टर की बेतहाशा हंसी सुनता रहा। फैले हाथ की सीध में दूर-दूर तक भी उसे कोई ऐसी बात दिखाई नहीं दी जो उन ठहाकों का कारण बतला सकती। दो-एक बार उसने पूछा भी कि 'क्या है ?' किन्तु हर बार और भी वेग के साथ खिलखिलाहट और अटपटे अर्थ हीन शब्द ही सुनाई पड़े।

"मुझे तो कहीं कुछ नजर नहीं आ रहा।" भीष्म के स्वर में झुंझलाहट थी। "अरे भीष्म, तुमने कुछ नहीं देखा दोस्त ! ह-ह-ह... क्या बात है ! माई गुडनेस ! अरे, इतना बड़ा हो गया, अभी तक शरारतें नहीं छोड़ीं ! कैसे झपट कर बहू के हाथ से स्ट्राबैरी छीन ली, हा-हा-हा...फाइन। और देखा तुमने, बहू कैसे शरमा गई थी ? ह-ह-ह-ह..."

"पाऽल !" भीष्म की आवाज में घबराहट मिली तेजी आ

गई।

"ह-ह-हा...।" डाक्टर ने हँसते-हँसते पेट पर हाथ रख लिया। मगर ठहाके बन्द नहीं हुए। लान में ही दस बीस कदम पर खड़े और भी कुछ लोगों ने इन्हें देखा, पर मुस्करा कर फिर से अपने-अपने ध्यान में लग गए।

भीष्म ने डाक्टर को दोनों कन्धों से थाम कर पास ही पड़ी केन की कुर्सी में डाल दिया। डाक्टर का हाथ कभी पेट पर और कभी सीने के बाएँ भाग पर दबता रहा मगर हँसी रोके नहीं रुक रही थी। पलकों के कोर गीले हो आए थे और गालों की नसें थक गई थीं। गले से निकलता हुआ स्वर अब टूट-टूट कर आने लगा था। चेहरा एक दम लाल हो आया, गोया किसी हाइ ब्लडप्रेशर के मरीज का हो।

"दो कप काफी", भीष्म ने एक बैरे को पास बुलाकर आदेश दिया। और फिर खुद भी सामने पड़ी कुर्सी में बैठ गया। जेब से सिगरेट केस निकाल कर एक सिगरेट ली फिर केस डाक्टर की ओर बढ़ा दिया। उन्होने भी लेकर मुंह में दबा ली। मगर हंसी के रह-रह कर फूट निकलने वाले धसके से मुंह में दबी सिगरेट काँप-काँप जा रही थी।

सिगरेट सुलगाते समय भीष्म ने बड़ी गड़ती निगाहों से डाक्टर के चेहरे को देखा।

बैरा काफी ले आया था। दोनों ने एक-एक कप ले लिया।

रिकार्ड-चेंजर पर अब डांस की धुन बज रही थी। धूप भी लान के पूर्वी कोने की रविश में जा सिमटी थी। शुरू अक्टूबर के ढलते सूरज की दिलफरेब अदा, ज़र्क-बर्क लिबासों में पीढ़ियों का निखार लिए खिले-खुले मेहमान, यौवन और बेफिक्री की खनूदगी में झूमता हुआ गुड्डू...

डाक्टर पाल कुछ ऐसी तन्मयता से यह सब निहार रहे थे गोया अपने जीवन के सबसे खूबसूरत सपने को आकार लेता देख रहे हों।

कहकहे थम गये थे, मगर खुशी भीतर ही भीतर उफनी पड़ रही था। चेहरे की रगें ताँबे के तारों-सी चमक आयी थीं। चेहरे की सारी झुर्रियाँ उस चमक में छिप गईं। कनपटियों पर उभरी नसों की फड़कन सामने बैठे भीष्म को साफ दिखाई पड़ रही थी।

भीष्म ने काफी का एक गरम घूंट निगल कर सिगरेट का लम्बा कश खींचा और फिर शब्दों को दबा-दबा कर डाक्टर की ओर देखता हुआ कहने लगा, "आज बहुत खुश हो पाल !"

"बेहद भीष्म, बेहद।" यह कहते हुए डाक्टर की आँखें भिच आयीं और सिर झटका खा गया।

"मगर पाल...!"

"मगर क्या ?"

"आज...तुम्हें आज की खुशी में कहीं कोई...।" यहां तक कहकर भीष्म रुक गया।

"कोई क्या भीष्म ?"

और इस बीच भीष्म को शायद उपयुक्त शब्द मिल गये थे या डाक्टर को बात के अनुकूल धरातल पर आ गया जान कर कहने लगा, "मेरा मतलब है, कि तुम्हें इस सब में कहीं कोई ऊनापन नहीं लग रहा ?"

"भीष्म !" डाक्टर के भिंचे जबड़ों में से निःसृत आवाज उनके पूरे बदन को हिला गई। और वे एक दम खामोश हो गए।

उसके बाद काफी का कोई घूंट उनसे निगलते नहीं बना। बाएँ हाथ में टिकी प्लेट पर काफी का गरम कप खड़खड़ा उठा। थोड़ी सी काफी छलक कर प्लेट में जा गिरी। बरसों बाद डाक्टर पाल के नथुनों से जो सांस आज निकली थी, उसे काफी की भाप गरमा न सकी।

जिस ऊनेपन का उनके राज़दार दोस्त ने जिक्र छेड़ा था, उसने आज उन्हें फिर हिला दिया, हालांकि वह एक अरसे से उस ऊनेपन के

कुछ इस तरह आदी हो चुके थे, जिस प्रकार कोई अभ्यासवश नमक न खाने की आदत बना लेता है और उसे स्वयं महसूस भी नहीं होता कि उसका खून जहरीला हो चुका है।

मगर आज उन्हें लगा कि उन्होंने जहर भरे दाँतों से अपने ही एक 'मैं' को काट लिया है।

"यह तुमने अच्छा नहीं किया भीष्म !" इतना कहते ही डाक्टर के ओंठ एक बारगी फड़क उठे और आँखें कुछ भर आने के कारण पलकें तेज-तेज झपकने लगीं। गरदन को जरा दूसरी ओर मोड़ कर धीमे स्वर में कहने लगे, "तुमने जिस रग पर उँगली धर दी है.. तुम... तुम्हें...ऐसा नहीं करना चाहिये था भीष्म, नहीं करना चाहिए था। सब कुछ जानते हो, फिर भी...ओफ !" डाक्टर के हाथ में कप-प्लेट इतना बोझिल हो उठा कि उनसे लिये रहते न बना और उसे नीचे घास पर रखते हुए फिर कहने लगे, "आज पचास की उम्र में मेरा हृदय जिज्ञासु-बच्चे की तरह मेरे वृद्ध विवेक से जाने कैसे-कैसे ऊटपटांग सवाल कर उठा है, भीष्म !"

भीष्म ने भी अपना कप नीचे रख दिया। नई सिगरेट निकाल कर ओठों में दबा ली। फिर डाक्टर की उंगलियों में सुलगते सिगरेट का टुकड़ा निकाल कर अपनी सिगरेट सुलगाते हुए कहने लगे, "उम्र का पैमाना तन के लिए है पाल, मन इस पैमाने से कब नपा है !"

डाक्टर ने भीष्म से अपना सिगरेट वापस लेते हुए कहा, "ठीक है, मगर यह कम्बख्त भावनाएं जो रह-रह कर छेड़ जाती हैं, सहा भी तो नहीं जाता भीष्म। हालांकि सोचता हूँ, यह सब अब..."

"तो पाल, वार्धक्य भी विवेक में ही आता है, जज़्बात तो कभी बूढ़े नहीं होते।"

"तो क्या तुम यह कहना चाहते हो भीष्म, कि विवेक का कोई मूल्य नहीं ?"

"यह मैंने कब कहा ?"

"तो ?"

"मेरा मतलब तो सिर्फ यह है कि भावना का मूल्य भी हलका नहीं, और विवेक की तरह इसका मूल्य उम्र के साथ-साथ तबदील नहीं होते।"

"न होते हों भीष्म, पर होने चाहिए, यह तो मानोगे ?"

"क्यों ?"

"इसलिए कि ऐसा नहीं होगा तो...तो जीवन चलेगा कैसे, सोचो तो।"

"पाल, अति बौद्धिकता ने जो यह 'चाहिए' की कंटीली बाड़ें तान रक्खी हैं ना, इन्हीं के कारण जीवन की चाल रुकी हुई है।"

"मगर भीष्म, तुम इस तरह से नैतिकता का पूर्ण बहिष्कार कर के मानवीय मूल्यों का आधार नहीं खिसका रहे ? सही मूल्य तो..."

"हूँ-हूँ-हूँ...डाक्टर पाल, यहीं तो भूल रहे हो, नीति-अनीति के संकुचित दड़बों में स्वाभाविकता की बाँट करके मात्र विवेक के तराजू पर भावना को तोलते हो, और फिर चाहते हो कि सही मूल्य मिले, जीवन की चाल खराब न हो ?"

कुछ क्षण रुक कर भीष्म ने खुले मुँह से फेफड़ों की पूरी ताकत तक हवा खींची, फिर मुँह बन्द करके पल दो पल सांस रोके रक्खी। जब नहीं रुक सकी तो नासिका-रंध्रों की राह सस्कारते स्वर में एक दम निकाल दी, "पाल !'

डाक्टर ने बिना कुछ बोले अपनी निगाह भीष्म के चेहरे पर लटका दी। भीष्म कहने लगा, "जिस भावना ने उमी को गुड्डू की गवर्नेस बनाया, जिसके अधीन उसने स्वयं को अपने बेटे और अपने आराध्य तुम से अलग रखा और अब तक गुमनाम जिन्दगी बसर करने पर मजबूर करवा रही है, उस भावना के लिए भी कोई पैमाना है तुम्हारे पास ?"

इतना कह कर भीष्म तो चुप हो गया, मगर डाक्टर बोलना चाहते हुए भी कई क्षणों तक बोल नहीं सके। हालांकि भीष्म की बात में सवाल कम और व्याख्या अधिक थी। जवाब के बिना भी चल जाता। मगर जब बिन बोले बात बन नहीं पड़ी तब दबी घुटी आवाज से कहने लगे, "उसकी बात और है भीष्म। उसने तो सारे पैमाने ओछे कर दिए। उसकी महानता की याद इस तरह मत दिलाओ, नहीं तो मैं इतना बौना हो जाऊँगा कि..."

फिर सिगरेट के दो-एक लम्बे-लम्बे कश खींच कर कुछ याद करने की मुद्रा में कहना शुरू किया, "मुझे ठीक याद है भीष्म, जिस अनोखी परिस्थिति में उसने मेरे प्रस्ताव को ठुकरा दिया था, तब मुझे अपना व्यक्तित्व, धन्यवाद सहित लौटा दी गई किसी अस्वीकृत घटिया कहानी सा लग आया था। तब से बराबर मुझे ऐसा लगता आ रहा है भीष्म, कि उसकी हर बात मुख-पृष्ठ के समाचार सी है और मेरा हर कृत्य उस पृष्ठ के अश्लील विज्ञापन सा। आज सोचता हूँ तो अपनी उन दिनों की कुछ हरकतें प्रौढ़ा के मेक-अप की तरह इस कदर भद्दी लग उठती हैं कि अपने आप पर थूकने को मन हो उठता है।"

डाक्टर ने एक के बाद एक चार पाँच लम्बे-लम्बे कश खींच कर अपने चेहरे को हलके नीले धुएँ की झिल्ली से ढक लिया। चम्पा की महक निकोटीन की गन्ध में खो गई।

और रिकार्ड-चेंजर पर एक बड़ी ही तीखी धुन बज उठी।

"भीष्म !"

"कहो।"

"एक बात सोचता हूँ..."

"क्या ?"

"हमारे आलस्य और अकर्मण्यता ने ही रिकार्ड-चेंजर जैसी ईजादें करवाई हैं।"

"सो कैसे ?"

"बार-बार उठ कर रिकार्ड चुनने-बदलने की जहमत से बचाव ही तो ढूँढ़ा है। मगर जो रिकार्ड एक बार चिन दिए गए वे अपने क्रम से बजेंगे ही; चाहे उस रिकार्ड की बारी तक आपका मूड उसे सुनने का हो या न हो। इस रिकार्ड-चेंजर के रचयिता हम हैं; और हमारे रचयिता ने भी लगता है, कुछ रिकार्ड-चेंजर जैसी टैक्नीक से ही काम लिया है। सुख और दुख की हलकी-तीखी जो भी धुनें एक बार भर दीं सो भर दीं और रिकार्ड चिन दिए। अपनी-अपनी बारी पर वे बजेंगे।"

और फिर डाक्टर पाल का प्रौढ़ बदन केन की छोटी सी कुरसी में गद्दी की तरह बिछ गया। हताशा की लहर चेहरे की झुर्रियों में रेंग आई और स्नायुओं का तनाव जो कुछ देर पहले चरम बिन्दु पर पहुँच चुका था, धीरे-धीरे स्थिर हो आया।

भीष्म ने एक संतोष की साँस ली और बिलकुल स्वाभाविक सहज अन्दाज़ से कहने लगा, "पाल, मालूम होता है, तुम्हारा विवेक वाकई सठिया गया है। तुम जैसे प्रतिभाशाली लोग भी हुल्ला-हूप किस्म की कल्पनाएं करने लगें, तो जीवन वास्तव में नियन्त्रित रिकार्ड-चेंजर बन कर रह जाएगा।" फिर कुछ देर रुक कर बात बदलने के इरादे से भीष्म ने कहा, "अच्छा, हटाओ इन चक्रव्यूही बातों को। मुझे खुशी है कि अब तुम नार्मल तो हुए। तुम्हारी असामान्य खुशी ने मुझे वाकई डरा दिया था। उसी का प्रसंग न छेड़ता तो तुम इस कदर बिखर जाते पाल, कि बटोरे न बनते।...खैर, अब उठो काफी देर हो गई है। लोगबाग जाने के मूड में लगते हैं। उन्हें विदा दो। चलो।"

और फिर मेहमानों को विदा कर चुकने के बाद डाक्टर पाल, भीष्म, गुड्डू और उसकी पत्नी लान के बीच कुर्सियां डलवा कर बैठ गए।

पिता को सुस्त देख कर गुड्डू ने पूछा, "डैडी, आपकी तबियत कुछ..."

"नहीं, नहीं बेटा...मैं...मुझे कुछ नहीं हुआ। यूं ही जरा सी थकावट..."

"तो आप आराम कीजिए", बहू ने आग्रह किया।

"अरे नहीं बेटी, ऐसी कोई बात नहीं, हाँ तो...यह गुड्डू कह रहा था, तुम अपने मायके जाना चाहती हो ?"

बहू ने सिर झुका कर हामी भरी तो डाक्टर फिर कहने लगे, "ठीक है, ठीक है। जब चाहो हो आओ।...अरे हाँ, वो कौनसी जगह बताई थी बेटी, दक्षिण में ?"

"तिरिचुरापल्ली", पत्नी के बोलने से पहले ही दक्षिणी उच्चारण में शहर का नाम लेते हुए गुड्डू ने जरा शरमाती मुस्कान के साथ कनखियों से उसकी ओर झाँका। वह हंस दी।

"सा'ब, आपका फोन", नौकर ने डाक्टर पाल के पास आकर सूचना दी। डाक्टर उठ कर फोन सुनने चले गए।

भीष्म ने गुड्डू को सबोधित कर पूछा, "इंगलैंड कैसा लगा गुड्डू ?'

"अच्छा है अंकल, मगर मैं तो वहां होम-सिक हो गया था।"

"और तुम्हें ?" अबकी बार वह बहू से मुखातिब था।

"मुझे तो अंकल, वहाँ की ठण्ड ने परेशान कर दिया।"

"अंकल, आपने हमें अपनी वह किताब नहीं भेजी ?" गुड्डू ने कहा।

"कौन सी बेटा ?"

"वही, जिस पर एकेडेमी एवार्ड मिला है आपको। हमने तो पेपर में पढ़ा था।"

"ओह, हाँ हाँ, भई अब तो दो कापियाँ देनी पड़ेंगी...हा-हा-हा..."

"सा'ब आपको बड़े सा'ब ने याद किया है।" नौकर ने आकर कहा। भीष्म ने पूछा, "कहाँ हैं, कौन से कमरे में ?"

"स्टडी में सा'ब।"

भीष्म गुड्डू और बहू को लान में ही छोड़ कर कोठी के भीतर चला गया। स्टडी में घुसते ही कानों में घबराई हुई आवाज पड़ी, "भीष्म, उमी का फोन आया था।"

"क्या-आ-आ?"

"कारोनेशन में ठहरी है। फौरन वहीं बुलवाया है। कहती है बहुत जरूरी काम है। अपने यहाँ होने की बात को गुप्त रखने को कहा है। समझ में नहीं आता यह सब क्या है!"

"तो हो आओ।"

"जा तो रहा ही हूँ। पर वह क्यों नही आयी? अच्छा, तो तुम भी चलो मेरे साथ।"

"तुमने अभी कहा कि वह अपने यहाँ होने को गुप्त रखना चाहती है।"

"तो क्या हुआ? तुमसे क्या गुप्त?"

"सो तो ठीक है। पर इस समय तुम अकेले जाओ। जरूरत समझो तो फोन कर देना। यहीं बैठा हूँ।"

"अच्छी बात है, भई।"

डाक्टर पाल ने ड्राइवर को बुलवा कर कार निकलवाई और कारोनेशन होटल को चल पड़े।

कार में बैठते ही उन्हें जाने कैसा लग आया कि दिवा-स्वप्न की स्थिति में हो आए। उमी के साथ बीते अतीत की याद अपने पूरे गीलेपन के साथ उन्हें भिगो गई...

...पचीस बरस पहले, डाक्टर जब अमला के पति और तीन बच्चों के पिता थे तो भी अविवाहिता उमी के प्रति उनका अनुराग, उन्माद की सीमाओं को छू चला था, जिसे देख कर डाक्टर पाल सहम गए थे।

मगर सहमने के बावजूद सैक्स और अनुराग के तकाज़ों को वहम

कह कर टाल देना न बन सका था।

और फिर जब हर मुमकिन जतन भी नित नये उभरते उन तकाजों को न रोक सके, तो उससे मुँह मोड़ते भी डाक्टर पाल से नहीं बना। अतः उमी के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रख दिया।

मगर उमी को वह प्रस्ताव जंचा नहीं। उसने अपनी असहमति प्रकट करते हुए बड़े शान्त भाव से कहा, "आपको इस तरह बाँध कर मैं आपके अस्तित्व को नाव के बंधे पाल की तरह अनुपयोगी नहीं बनाऊँगी। आपको अनुपयोगी बना कर रख लूं, ऐसा बोझ ढोने की क्षमता मुझमें नहीं। मेरा स्वार्थ तो इसी में है कि मैं आपसे सदा कुछ न कुछ पाती ही रहूँ। और पाऊँगी तभी, जब आप देते रहने को उन्मुक्त रहेंगे।"

'तो उमी, फिर मैं अपने व्यक्तित्व की इस कमजोरी को और तुम्हारे इशारे को एक शिष्ट उलहना भी तो समझ सकता हूँ। और यदि यह उलहना ही है, तो ?"

"ज्यतिमीय कल्पना की तरह आप कुछ भी फर्ज कर लेने में स्वतन्त्र हैं। इस तरह के फर्ज कर लेने में रेखागणित की समस्याएं भले ही हल हो जाएं, मगर मानवीय सम्पर्कों की समस्याओं का समाधान नहीं होगा, इससे आप इन्कार नहीं कर सकेंगे।"

"तो क्या तुम उस सत्य से इन्कार कर सकोगी जो कुछ ही महीनों में अपने सम्पूर्ण भद्देपन के साथ उजागर होने वाला है ? मुझे खुला छोड़कर खुद ही सजा भुगतनी पड़ेगी।"

"और आपको इस स्थिति में बाँध कर भी तो मुझे ही भुगतना पड़ेगी, इस खतरे को भी अभी से पहचानती हूँ, और फिर एक जुर्म में दो व्यक्ति शरीक हों तो सजा भी दोनों ही भुगतें, न्याय यही है, इसलिए इस भुलावे में तो रहिएगा नहीं कि अकेले ही सहूँगी।"

"मतलब ?"

'मतलब यह कि अपनी सन्तान को खुलकर अपनी न कह सकने की

सजा आप सहें, और मां-बाप दोनों की जिम्मेदारियों का बोझ मैं सहूँ। बैठ गया न दण्ड का हिसाब !"

दण्ड का यह बटवारा करके उमी ने जो सारी सजा अपने ऊपर ओढ़ ली थी, यह डाक्टर पाल को जंची नहीं।

फिर दोनों के बीच एक ऐसा समझौता हो गया, जिसके अनुसार गुड्डू पैदा होकर डाक्टर पाल का ही बेटा रहा, उमी का नहीं। उमी सिर्फ उसकी गवर्नेस रही; मां नहीं। और गवर्नेस भी अवैतनिक। अपनी जीविका के लिए बराबर पहली वाली नौकरी पर जाती रही।

गुड्डू भी उमी को ममी नहीं, आंटी कहता रहा। डाक्टर पाल की पत्नी अमला उसकी ममी थी, बिट्टू, टीटू और बबली उसके भाई-बहिन थे। एक संभ्रात परिवार का वह सदस्य था। पाल-दंपत्ति का सब से छोटा बेटा...उमी उसकी धाय, गवर्नेस, सभी कुछ मगर मां नहीं।

उमी के नियुक्ति-पत्र में पचास रुपये मासिक वेतन के अतिरिक्त 'फ्री बोर्ड एण्ड लाजिंग' की कागजी रियायत भी दे दी गई थी। अमला ने ये सब रियायतें दे देना भी शायद इसलिए मन्जूर कर लिया था क्योंकि अन्यथा उसे अपने अधिकार और रियायतें खतरे में पड़ने का अन्देशा हुआ होगा; हालांकि उमी ही उस खतरे को टालने में सदा सतर्क रही।

उमी और अमला के अधिकारों का दायरा बिलकुल अलग-अलग था, कहीं क्लेश नहीं था। अमला के लिए जो अनुपयोगी था, उमी को चाहिये भी अधिकांश में वही था।

उमी वेतन और रियायतों के इकरारनामे के होते हुए भी अवैतनिक ही नहीं पेइंग-गेस्ट सी थी।

पेइंग-गेस्ट सी यह उमी सिर्फ डाक्टर पाल के यहां ही पेइंग-गेस्ट नहीं थी, अपने जीवन के हर कोने वह पेइंग-गेस्ट थी। जिन्दगी का कोई भी मेहमानवाजी उसने कभी बिना बिल चुकाये स्वीकार नहीं की थी। अतिथि का सत्कार करने में आतिथेय ही सम्मान का सर्वांश ले

जाता है। अतिथि के साथ तो लिथड़ा रह जाता है दान का असम्मान ही। असम्मान की इस लिथड़न को उर्मी ने कभी भी तो ग्राह्य न माना था।

इसी तरह चार साल सरक गये।

उर्मी एक बार फिर गर्भवती हो गई; तो अब तक का सब किया कराया मिटने को हो आया। अमला अब और कोई भी रियायत देने के लिये स्वयँ को तैयार न कर पा सकी। बल्कि पहले दी गई रियायतों को छीन लेने की उसकी जिद के परिणामस्वरूप सम्भावित बखेड़ों से डाक्टर पाल भी आतंकित हो गए थे।

आतंक की ही स्थिति में एक दिन उर्मी को अपने स्टडी में बुलवा कर पूछ बैठे, "उर्मी, अब क्या सोचा ?"

उर्मी पहले तो कुछ देर खामोश रही, फिर गम्भीर स्वर में शब्द तोलती हुई-सी कहने लगी, "चिन्ता मत कीजिए, आप पर आँच न आने दूंगी। पहले भी मेरी इच्छा के विरुद्ध आपने मुझे वह समझौता करने पर विवश किया था। मुझे तो उस सब-कुछ की लालसा भी नहीं थी।"

"यूं बात अब भी कुछ नहीं उर्मी, पर...अमला के बखेड़े से जो बदनामी..."

"बदनामी की नौबत न आने दूंगी। निश्चिन्त रहें।"

"यानी ?"

"? ?...अ...कुछ नहीं, मेरा मतलब है कि मैं...हाँ, मैं अमला को समझा-बुझा कर सब ठीक कर दूंगी।" और फिर उर्मी ने अपने को पूरी तरह संभाल कर कहा, "देखिए, आपको यूनिवर्सिटी के लिए देर हुई जा रही है। जल्दी से तैयार हो जाइएगा।"

अपने आपसे जूझती हुई उर्मी को डाक्टर पाल ने भांप लिया था। उर्मी के बहुत मजबूर करने पर वह तैयार होकर चले तो गए, पर दिन भर किसी अनिष्ट की आशंका से आतंकित रहे। उर्मी से हुई

सुबह की बातों की याद रह-रह कर उन पर घड़ों ग्लानि उंड़ेल जाती रही। अपने व्यक्तित्व के हलकेपन पर आक्रोश का भाव भी घिर-घिर कर मन को भारी बनाता रहा।

घर लौटे तो उमी की जगह उमी की यह पंक्तियाँ मिलीं—"अपनी आराधना के फलस्वरूप प्राप्त वरदान को अपने ही आराध्य की बदनामी का हेतु बनाना कौन आराधक चाहेगा? अकेला व्यक्ति अपूर्ण है, मानती हूँ; मगर यह पूर्णता क्या बिना एक-दूसरे से बंधे प्राप्त नहीं की जा सकती? क्या हम बंध कर अपनी-अपनी शक्तियों का ह्रास नहीं करते? जिन्दगी की इत्र वाली शीशी के मुंह पर कार्क कस रखने में मेरा विश्वास कभी नहीं रहा। अतः खुशबू सड़ांध न बन जाय, मैं कार्क खोल रही हूँ। किसी अनिष्ट की आशंका कभी न करें, इतना आश्वासन छोड़े जाती हूँ।"

डाक्टर पाल को उमी के चले जाने पर इस बात का खुल कर एहसास हो चुका था कि शरीर में विजातीय द्रव्य सा लगने वाला कुछ एकदम सजातीय था। और यही एहसास उन्हें पिछले इक्कीस बरस से बराबर परेशान कर रहा था।...

डाक्टर पाल की कार कारोनेशन के पोर्टिको में जाकर रुक गयी तो वे सचेत हुए। उतर कर कमरे का पता लिया और तेजी से सीढ़ियाँ चढ़ गए।

कमरे में दाखिल हुए तो वह लगभग हाँफ रहे थे। उमी बैठी हुई थी, उठ खड़ी हुई। बढ़ कर स्वागत करना चाहा। कदम उठ न सके। बाहों में एक अजीब सी फड़कन हो आयी; मगर दिल की धड़कन ने सारे हौसले पस्त कर डाले।

करीब-करीब यही स्थिति डाक्टर की भी थी। कुछ देर की चुप्पी ने जब स्थिति की असह्यता को सहने की कुछ शक्ति प्रदान की, तब उमी डाक्टर पाल के कदमों में बिछ-सी गयी और फूट-फूट बह चली। डाक्टर ने अपने लरजते बाहुओं का सहारा देकर उसे उठाया और गले

लगा लिया। भीतर न समा सकने वाला दर्द देर तक ग्राँखों की राह बहता रहा।

डाक्टर पाल को लगा, मानो पचीस बरस पहले की जवान उमी उनकी आगोश में है।

जी कुछ हलका हुआ तो उमी ने डाक्टर को कुरसी पर बिठा कर धीरे-धीरे बात का सूत्र पकड़ने की कोशिश की। कहने लगी, "मैं... मुझे कुछ कहना था।"

"कहो उमी।"

"लीजिए तो अब मैं कहे ही देती हूँ। अधिक देर तक मुझसे रोके नहीं बन रहा।"

"ऐसी क्या बात है उमी ? कहती क्यों नहीं ?"

"बात..." इतना कह कर उमी सामने दीवार की ओर देखती हुई जबड़े भींच कर कहने लगी, "बात क्या है, आघात है, जो मैं कई दिन पहले खा चुकी हूँ—सह भी चुकी हूँ।"

"उमी, जो आघात अब तक झेले जा चुके हैं उनसे बड़ा अब और क्या इस उम्र में घटने को रह गया है ? जो कहना है, खुल कर कहो।"

"वह दुर्घटना इसी उम्र के लिए हमारे नाम बच रही थी। क्योंकि पहले वह घट नहीं सकती थी।"

"पहेलियाँ मत बुझाओ, उमी। कह डालो। मैंने कहा न, कुछ न होगा।"

"अच्छा तो लीजिए : यदि हमें पता चले कि जिसे हम अपनी बहू समझे हुए हैं, वह हमारी बेटी है, तो ?"

"क्या ?..."

डाक्टर पाल ने अपने दोनों हाथों को मिला कर इतने जोरों से भींच दिया कि उंगलियों के पोरों में खून जमा हो गया।

उमी कहती रही—"आपने तो मुन्नी को देखा ही नहीं था। आप

से बिछुड़ने के चार महीने बाद दक्षिण में वह पैदा हुई। उसे भी मैंने नहीं बताया कि आप उसके पिता हैं।" और कुछ पल रुक कर उसने फिर कहा, "पिछले हफ्ते मुन्नी का खत मिला।" इतना कहते ही उमी ने एक बड़ी घोंटती साँस ली। मगर तुरन्त ही कह उठी, "खैर, तो... जो जिस रूप में घटा है, उसे अब झुठलाया तो नहीं जा सकता। इसलिए अब...अब तो यही बेहतर है कि...कि इन बच्चों के सुख में गाँठ बनने ही न दी जाय। वरना इस तरह की कुंठा इनकी जिन्दगी की हर खुशी को चाट जाएगी।"

डाक्टर पाल इस बीच एक अजीब बेचारगी की निगाह से उमी को निहारते रहे। लगा, कि अक्ल लकवा गयी है।

उमी डाक्टर की ओर देखे बिना ही कहने लगी, "तो मैंने यही फैसला किया है कि देश छोड़ कर सदा के लिए बाहर जा बसूं। वरना किसी न किसी दिन बात खुले बिना नहीं रह सकती।"

उमी जिस आवाज़ में बोलने लगी थी, वह स्वर किन्हीं अजनबी घाटियों में से होकर आता हुआ लगा। डाक्टर पाल से न तो उस स्वर का प्रतिकार करते बना और न कोई अन्य बोल ही मुंह से निकला। अवाक्-से बैठे खाली-खाली निगाहों तकते रहे। फिर कुछ देर के बाद उन खाली निगाहों के आगे मुन्नी का भरा हुआ चेहरा कौंध गया। उन्हें लगा मानो वह चेहरा गुड्डू के चेहरे की ओर बढ़ रहा है...गुड्डू ने मुन्नी को चूम कर आलिंगन में ले लिया है। बाएं कोने में रिकार्ड-चेंजर पर कोई मायूस सी धुन रह-रह कर सिसकी पढ़ रही है।

कवच

महातपस्वी जमदग्नि अपनी कुटिया में चित लेटे किसी गहरी चिन्ता में डूबे हुए थे। दो पहर रात बीत चुकी थी पर नींद नहीं आ रही थी। कुटिया के खुले दरवाज़े की राह भीतर छिटक रही चांदनी भी उन्हें सुखद नहीं लग रही थी। चारों ओर का वातावरण एकदम शांत था। पास ही मंद गति से बहती हुई नदी की मद्धम सी कलकलाहट उस सन्नाटे को भयावह होने से बचा रही थी। मगर फिर भी एक अनजाने आतंक से जमदग्नि बेचैन थे।

इसी वन में तपस्या करते करते वह प्रौढ़ हो चले थे। वेदाध्ययन में ही उन्होंने सदा अपने को खोये रखा था। उन्हें सारे वेद कण्ठस्थ हो चुके थे। कठिन तपस्या में तपा हुआ उनका शरीर पहले कभी भी इस प्रकार विकारग्रस्त नहीं हुआ था। पर इधर कुछ दिनों से उन्हें अनिद्रा रोग ने आ घेरा था, और अक्सर पूरी-पूरी रात तिनकों की शैय्या पर करवटें लेते बीत जाती।

आज रात भी वह सोने की कोशिशें कर कर के हार गये थे। पूरे बदन पर तिनकों की सरसराहट रेंगने लगी तो हताश होकर चित

लेट गये और अपनी मन:स्थिति का विश्लेषण करने लगे।

रात भर के चिन्तन के बाद जो सूत्र पकड़ में आया, उसने जमदग्नि को इस बुरी तरह जकड़ लिया कि वह छटपटा उठे। नंगे बदन पर तिनकों की रेंगने वाली सरसराहट अब बिच्छुओं के डंक सी लगने लगी। आत्म विश्लेषण ने तपस्वी के सामने उनके भीतर की जिस गांठ को खोल कर रख दिया था, उसे देख कर वह विकल हो आये। उन्हें अपने प्रौढ़ शरीर में पिघला हुआ सीसा तैरता अनुभव होने लगा।

और उन्हें लगा कि दिग्दिगंत में फैला हुआ उनके तप का सारा यश क्षण भर में जल कर भस्म हो गया है और अब तक का अर्जित ज्ञान एक छलावा था वो उन्हें छल गया।

मगर इस एहसास के बावजूद जमदग्नि के भीतर जल उठी अग्नि का ताप इतना प्रबल था कि वर्षों का तप भी उन्हें वह निर्णय लेने से न रोक सका, जिससे प्रेरित होकर वह सुबह होते ही राजा प्रसेनजित के पास जा पहुंचे।

राजा प्रसेनजित महा तपस्वी जमदग्नि को अपने यहाँ अतिथि के रूप में पाकर धन्य हो गये। उन्होंने हर प्रकार से तपस्वी का आदर सत्कार करने के बाद हाथ बांध कर पूछा, "महामुने! अब मैं आपका आदेश सुनना चाहता हूं। मेरे राजमहल को आपने अपने चरण कमलों से पवित्र करके निश्चय ही मुझे कृतार्थ कर दिया। मुझ अकिंचन का आतिथ्य ग्रहण कर आपने मुझे अपार पुण्य का भागी बना दिया है। आदेश दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं?"

"हम राजकुमारी रेणुका का पाणिग्रहण करना चाहते हैं। रेणुका को हमें सौंप सकोगे राजन?"

राजा प्रसेनजित इतना सुनते ही सन्नाटे में आ गये। उन्हें वज्र-पात की सा अनुभूति हो आयी। लगा जैसे दिल के बीचों बीच किसी ने कटार भोंक दी हो। कई पलों तक वह पक्षघात के रोगी की स्थिति में

अवाक् बैठे रहे।

धीरे धीरे जब उस आकस्मिक आघात का प्रभाव कुछ घटा, तब राजा ने स्थिति को समझने की कोशिश की और माथे पर फूट पड़ी पसीने की बूंदों को पोंछते हुए कुछ कहना चाहा। मगर उनके ओंठ फड़फड़ा कर रह गये। कोई भी बोल उनकी राह बह-चू न सका।

राजा का कष्टकर मनःस्थिति में देख कर जमदग्नि गम्भीर स्वर में मात्र 'राजन्' ही कह पाये थे कि प्रसेनजित ने सिहर कर तुरन्त ही उन्हें बीच में टोक दिया, "महामुने ! क्षमा करें, उत्तर में विलम्ब की धृष्टता हुई। मेरे इस मौन को अन्यथा न लें। आपकी आज्ञा शिरोधार्य है।" प्रसेनजित एक ही सांस में कुछ इस प्रकार यह सब कह गए मानों किसी सम्मोहन के प्रभाव में बोल गये हों।

तपस्वी की मांग की अवहेलना करके उनके कोप का भाजन बनने का साहस प्रसेनजित न जुटा सके।

और फिर जमदग्नि की इच्छानुसार राजा ने उसी दिन अपनी नव-रजस्वला पुत्री रेणुका का विवाह तपस्वी के साथ 'विधिपूर्वक' कर दिया।

रेणुका अपने पति जमदग्नि के साथ आश्रम में रहकर दिन बिताने लगी।

समय पाकर रेणुका को क्रमशः पांच पुत्र हुये : पहले रुक्मवान, फिर सुषेन, वसु और विश्वावसु तथा अन्त में परशुराम।

परशुराम अपने भाइयों में सब से छोटा था, मगर था बहुत ही तेज और गुस्सीला। सारे आश्रमवासी इस बात से हैरान थे कि तपस्वी का बेटा होते हुए उसका स्वाभाव इतना तामसी क्यों है ?

रेणुका अपने पाँचों बेटों का लालन पालन बड़े मनोयोग से करती रही। पति की हर सुविधा का भी ध्यान रखती।

हालांकि जमदग्नि अब तक काफी बूढ़े हो चुके के और रेणुका

अभी युवती थी, मगर फिर भी वह पति को किसी प्रकार का असुविधाजनक अनुभव होने देना नहीं चाहती थी। न ही उसने कभी किसी असन्तोष को प्रकट होने दिया था। वह यथासम्भव हर ऐसे अवसर को टाल जाती। ऋतुस्नान के बाद कई-कई दिन का उपवास करके अपनी कामाग्नि का हठपूर्वक दमन करती।

व्रत-उपवास का यह कार्यक्रम परशुराम के जन्म के बाद से ही अधिक कट्टरता से शुरू हुआ था। रेणुका अभी उस समय अट्ठारहवें वर्ष में ही थी। तभी जमदग्नि मुनि ने वर्ष भर की अखण्ड समाधि लगाने का निश्चय किया।

रेणुका उन दिनों पति की हर सुविधा का ध्यान रखती। बच्चों की देख-रेख भी करती और पति की साधना को सफल बनाने के लिए उनकी सेवा का दायित्व भी बराबर निबाहती।

हर महीने ऋतुस्नान के बाद वह कई-कई दिन तक निराहार रहने लगी, ताकि ऐसे दिनों में उभरने वाली विरोधी-शक्तियों को यथा-संभव अशक्त बना सके।

व्रत के दिनों वह सुबह से शाम तक अपने को स्नान-पूजा-पाठ तथा आश्रम के छोटे-मोटे कामों में इस प्रकार उलझाए रहती कि रात होते-होते दिन भर की भूख और श्रम से टूटा हुआ उसका शरीर चूर-चूर हो तृण-शैया पर बेसुध लुढ़क पड़ता।

जमदग्नि ने अपनी वर्ष भर की अखण्ड तपस्या पूरी करने के बाद से अपनी दिनचर्या कुछ इस ढंग की बना ली थी कि आश्रम के कामों से उनका सम्बन्ध लगभग कट-सा गया था।

रात को अपने सोने का प्रबन्ध भी उन्होंने अब आंगन के पश्चिमी कोने वाली कुटी में कर लिया था। दोपहर को थोड़ी बहुत देर के लिए कभी-कबार पत्नी और बच्चों से सामना होने पर वह केवल औपचारिक ढंग की दो-चार बातें कर लेते।

ऐसे ही औपचारिक वार्तालाप के दौरान एक दिन जमदग्नि ने

पत्नी को अस्वस्थ-सी जान कर पूछा, "रेणुके ! जी कैसा है ?"

"ठीक है स्वामी।"

"लगता है, कोई रोग है।"

"जी नहीं।" रेणुका ने संक्षिप्त-सा उत्तर दे दिया। इस प्रसंग पर बातचीत करना उसे रुचिकर नहीं लगा। मगर जमदग्नि फिर प्रश्न कर बैठे, "तो फिर तुम्हारा स्वास्थ्य क्यों गिरता जा रहा है ?"

"इन दिनों व्रत में हूं स्वामी", इतना कहते ही रेणुका की दृष्टि झुक गयी और वह पांव के अँगूठे से धरती की मिट्टी कुरेदने लगी।

"पर इन दिनों तो कोई व्रत नहीं है।"

"जी...मैं..." रेणुका हकलाने-सी लगी। कुछ क्षण तक जब उसे कोई सांकेतिक शब्द नहीं मिले तो उस असुविधाजनक स्थिति से उबार पाने के लिए उसे स्पष्ट कहना ही पड़ा। जी कड़ा करके वह एक ही सांस में उगल-सी गई, 'ऋतुस्नान के बाद मैं हर महीने कुछ दिन उपवास करने लगी हूँ।" परन्तु कहते ही उसके चेहरे पर एक विचित्र सी लाली लकीर बनकर खिच फैल गयी।

जमदग्नि के सामने पल भर में ही सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गई। और वह बिना एक भी शब्द कहे तत्काल वहाँ से चले गए।

उस रात तपस्वी अपनी कुटी में अकेले पड़े-पड़े ध्यान-चिन्तन की बजाय चिन्ता और ग्लानि में डूबते-उतराते रहे। रेणुका के शब्द रह-रह कर उनके कानों में गूंज-गूंज जाते और उसके मुख पर फैल जाने वाली लालिमा अन्धकार की कालिख में शेर की चमकती हुई आंखों के समान उन्हें डराने लगी।

और आज एक बार फिर से उन्हें अपना सम्पूर्ण ज्ञान अधूरा और लकवाया हुआ-सा लग उठा तथा अपने जीवन भर की कठोर तपस्या के प्रति एक न-कुछ की अनुभूति हो आई।

रेणुका को पाँच पुत्र देकर महातपस्वी अपनी जानें आश्वस्त हो गए थे कि रेणुका के नारीत्व का लक्ष्य सिद्ध हो गया है। वेद शास्त्रों

के ज्ञान से महातपस्वी ने जाना था कि संतान ही यौन आवेग की चरमोपलब्धि है। पर आज उन्हें अपने पाँचों पुत्र पाँच बेजान मिट्टी के खिलौने जान पड़ने लगे। और साथ ही लगा यह भी कि रेणुका अब खिलौनों से बहलने की उम्र को लांघ चुकी है।

रेणुका की भरी-बिफरी जवानी अब जमदग्नि को किसी बाढ़ग्रस्त तूफानी नदी की तरह डराने लगी और उस बाढ़ के प्रकोप से बचने के लिए रात भर कल्पना के फैले खेतों में आश्रय ढूंढ़ते हुए बेतहाशा भागते रहे। पर भाग-भाग कर जब हाँफ गए और पनाह कहीं न मिली तब उन्होंने एक बूढ़े बरगद के मोटे तने को कस कर पकड़ लिया और उसके सहारे ऊपर चढ़ कर लटक गए। और फिर उसी बरगद के तने से लटके-लटके ही वे रेणुका की बेकाबू बाढ़ को शास्त्रों का विधान सुना कर शांत करने लगे।

अगले ही दिन से अपने व्यस्त कार्यक्रम में से समय निकाल कर वे नियमित रूप से थोड़ी-थोड़ी देर के लिए प्रायः रोज ही रेणुका को उपदेश देने लगे।

महातपस्वी जमदग्नि ने गम्भीर आवाज़ में कहा, "रेणुके ! मन की प्रकृति चंचल अश्व की सी होती है।"

रेणुका ने लज्जा डूबे अनमने स्वर में हुंगारा भर दिया, "जी।"

तपस्वी का उपदेश फिर गूंज उठा, "और संयम की लगाम से उस अश्व की गति को दिशा देना विवेक के सारथी का काम है।"

"जी।"

"नारीत्व की चरम परिणति मातृत्व में है।"

"जी।"

जमदग्नि ने इस बार रेणुका को एक अर्थपूर्ण दृष्टि से सिर से पाँव तक देखा। देखने का अंदाज़ कुछ इस किस्म का था कि, 'रेणुका ! देखो, मैं तुम्हें किस दृष्टि से देख रहा हूँ।' जब जमदग्नि आश्वस्त हो गए कि रेणुका ने उन निगाहों का अर्थ पकड़ लिया है,

तब अपने पहले कहे हुए वाक्य के आगे की कड़ा जोड़ते हुए शब्दों को टिका-टिका कर कहने लगे, "मातृत्व की कामना से आगे बढ़ कर यौन वृत्ति जिस क्षेत्र में पदार्पण करती है, उसे शास्त्रों ने वासना की संज्ञा से अभिहित कया है।"

रेणुका को आंखें झुका कर फिर कहना पड़ा, "जी।"

महामुनि ने अपना प्रवचन जारी रखा, "अतः चित्त वृत्तियों पर अंकुश रखना मनुष्य का धर्म है। इसी धर्म से च्युत होना अधर्म है, पाप है, महानाश का लक्षण है..."

परन्तु महानाश के यह सब डरावे भी रेणुका के उस 'अश्व' की गति को दिशा न दे सके।

और महातपस्वी जमदग्नि अपने नित्य के प्रवचनों के बावजूद यह देखते रहे कि रेणुका को हर महीने ऋतुस्नान के बाद निराहार व्रत रखने की जरूरत बराबर पड़ रही है।

रेणुका को व्रत में देख कर जमदग्नि के सामने हर बार अपने ज्ञान की निरर्थकता उजागर हो-हो आती। मगर उन्होंने अपने प्रवचन वाले कार्यक्रम को नहीं छोड़ा। उस बरगद के तने को छोड़कर त्राण का कोई दूसरा उपाय उनके सामने नहीं आ पाया।

और इसी तरह महीने और वर्ष सरकते गए। पन्द्रह बसंत आए, पर रेणुका ने पतझर समझ कर बिता दिए।

पाँचों नन्हें बेटे अब किशोरावस्था को प्राप्त कर चले थे। रेणुका बराबर अपने भीतर के अंधड़ों को अपने कवच से दबाये रही। आवेगों का दमन करते-करते वह विक्षिप्त-सी हो गयी थी। पर हर ऋतुस्नान के बाद वह व्रत रखना कभी न भूलती थी।

एक दिन की बात है कि उसके पाँचों पुत्र फल लेने गए हुए थे। पति तपस्या में तल्लीन थे और रेणुका व्रत में थी। जी गिरा-गिरा सा हो रहा था। आलस्य उसके अंग-अंग को निढाल किए हुए था। इसी से स्नान-ध्यान करने के लिए वह देर से निकली।

स्नान-ध्यान करके जब रेणुका अपने आश्रम को लौट रही थी, तब सहसा उसकी दृष्टि जल-क्रीड़ा करते हुए राजा चित्ररथ पर जा पड़ी। नग्नप्राय अवस्था में उस युवक राजा को देख कर रेणुका के भीतर कुछ कसक-कड़क उठा।

बरसों तक जिस आवेग को वह अपने हठ के कवच से ढके-दबाए रही थी, वह आज काबू से बाहर हो गया था। उन क्षणों रेणुका को स्पष्ट आभास हुआ कि वह कवच टूट गिरा है।

कवच टूटते ही दमित अग्नि भड़-भड़ जल उठी और रेणुका वहीं की वहीं ठिठक गयी। लाख चाहने पर भी उसके कदमों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। उसने विवेक के ठण्डे छींटे मार-मार कर बेतरह उस आग को बुझाना चाहा। जलती हुई आँखों को ज़ोर-जबरदस्ती भींच-भींच कर उसने उस तरफ से हटाना चाहा, जहाँ चित्ररथ नहा रहा था। चित्ररथ का एक-एक अंग उसे कल्पना ही कल्पना में जकड़ता चला गया। उस युवक राजा की मांसल गरिमा की कल्पना ने रेणुका को भीतर बहुत गहरे तक छू दिया। और उस गर्म छुअन ने कुछ ऐसा कर दिया कि विवेक को अंतर्वेग ने दबोच लिया और रेणुका की रगों में वर्षों से रुका हुआ 'कुछ' बाँध तोड़ उफन उठना चाह उठा।

परन्तु फिर भी जब वह उफान किनारे काटने लगा तब रेणुका ने इस बुरी तरह अपने को झटक दिया कि उस झटके से लगभग वह टूट सी गई।

और आश्रम पहुँचते-पहुँचते वह इस सीमा तक निढाल हो गई थी कि उसका एक-एक कदम मन-मन का हो आया था। इस तरह अपने

रेणुका ने जल्दी से उठकर कोने में रखे मिट्टी के पात्र में से पानी का कटोरा भरा और गट्ट-गट्ट कर एक ही सांस में पी गई। फिर बाहर निकल कर आँगन में टहलती हुई मन ही मन गायत्री मन्त्र का जाप करने लगी।

थोड़ी देर के बाद जब जी कुछ टिका तब फिर से कुटी में जाकर तृण-शैय्या पर लेट गयी। मगर नींद फिर भी नहीं आई। घंटों लेटी-लेटी करवटें बदलती रही।

तिनकों पर करवटें लेते-लेते रेणुका को अपने तन पर तिनके रेंगते हुए अनुभव होने लगे। इस सरसराहटी अनुभूति ने उस के अङ्ग-अङ्ग में फिर से झुरझुरी तैरा दी, जो धीरें-धीरे उसके पोर-पोर में रमती चली गई।

रेणुका को ऐसा जान पड़ा कि जमदग्नि की कठिन तपस्या भी उनके विकारों का ठीक वैसा ही कवच है जैसा कि रेणुका ने अपने आवेगों को ओढ़ा रखा था। अन्तर सिर्फ इतना लगा कि पति का कवच एक कमज़ोरी का कफन था और उसका कवच एक उफनते जल वाले पात्र का ढक्कन। कफन के नीचे शव है और ढक्कन के तले है उबाल।

ऐसा विश्लेषण करते ही रेणुका को अपनी धमनियों में लावा उबलता हुआ महसूस होने लगा। लावे की तपन उस से सहते नहीं बन रही थी। उसके नथुनों से गरम भाप निकलनी शुरू हो गई। और कुछ ही देर बाद वह इस हद तक हांफने लगी कि उससे लेटे रहना मुश्किल हो गया।

रात आधी से ज्यादा बीत चली थी। जमदग्नि आंगन-पार वाली अपनी कुटिया में सोये पड़े थे। रेणुका अपनी कुटी में रगों में उबलते लावे से परेशान पड़ी छटपटा रही थी। नासिका रंध्रों से निकलने वाली गर्म भाप उसे बुरी तरह तपा रही थी।

और फिर जब उस भाप ने संयम और विवेक के ढक्कन को

से लड़ लड़ कर टूटी, अचेत और त्रस्त हुई रेणुका ने आश्रम में प्रवेश किया।

जमदग्नि जप समाप्त कर चुके थे। पत्नी को ऐसी स्थिति में देख कर पूछने लगे, "रेणुके ! जी कैसा है ?"

रेणुका ने अपने को चुराने का प्रयत्न करते हुए कहा, "यूं ही जरा बदन गिरा-गिरा सा है।"

"तो फिर स्नान नहीं करना चाहिए था, रेणुके।"

"स्नान तो करना ही था, स्वामी।"

"सो क्यों ?"

"व्रत में हूँ न।"

और फिर व्रत की बात सुनते ही जमदग्नि कुछ विचित्र असुविधा-जनक मनःस्थिति में आ गए। बात को आगे बढ़ाने को मन न हुआ। आत्मग्लानि और वितृष्णा के मिले-जुले भावों में डूबते उतराते जमदग्नि बाहर चले गए।

रेणुका वहीं एक कोने में तृण-शैय्या पर बिछ गई। लेटी-लेटी ही अपने आप से जूझती-भिड़ती रही। रह-रह कर उसकी आँखों के सामने राजा चित्ररथ का अनावरित सुडौल शरीर झूम-झूम जाता और वह फिर बेचैन हो छिड़-थिरक पड़ती। जल-विहार करते हुए मदमस्त पौरुष की एक-एक भंगिमा रेणुका की कल्पना को गुदगुदा कर उसके पोर-पोर में एक अचीन्ही पीर रसमसा रही थी। अनियन्त्रित आवेग के उन हल्लों ने उसे थकिया-थका कर स्वेद कणों से नहला दिया। उसे लगा कि वह गली-घुली जा रही है।

"...उफ !" रेणुका के मुंह से अनायास यह शब्द कुछ इस तरह फिसल गया गोया वह कहना चाह उठी हो कि "बस और नहीं सहा जायगा।" उसे लगा कि उसके स्पदनों की गति सीमा-रेखा लांघ गई है।

रेणुका ने जल्दी से उठकर कोने में रखे मिट्टी के पात्र में से पानी का कटोरा भरा और गट्ट-गट्ट कर एक ही सांस में पी गई। फिर बाहर निकल कर आँगन में टहलती हुई मन ही मन गायत्री मन्त्र का जाप करने लगी।

थोड़ी देर के बाद जब जी कुछ टिका तब फिर से कुटी में जाकर तृण-शैय्या पर लेट गयी। मगर नींद फिर भी नहीं आई। घंटों लेटी-लेटी करवटें बदलती रही।

तिनकों पर करवटें लेते-लेते रेणुका को अपने तन पर तिनके रेंगते हुए अनुभव होने लगे। इस सरसराहटी अनुभूति ने उस के अङ्ग-अङ्ग में फिर से झुरझुरी तैरा दी, जो धीरे-धीरे उसके पोर-पोर में रमती चली गई।

रेणुका को ऐसा जान पड़ा कि जमदग्नि की कठिन तपस्या भी उनके विकारों का ठीक वैसा ही कवच है जैसा कि रेणुका ने अपने आवेगों को ओढ़ा रखा था। अन्तर सिर्फ इतना लगा कि पति का कवच एक कमज़ोरी का कफन था और उसका कवच एक उफनते जल वाले पात्र का ढक्कन। कफन के नीचे शव है और ढक्कन के तले है उबाल।

ऐसा विश्लेषण करते ही रेणुका को अपनी धमनियों में लावा उबलता हुआ महसूस होने लगा। लावे की तपन उस से सहते नहीं बन रही थी। उसके नथुनों से गरम भाप निकलनी शुरू हो गई। और कुछ ही देर बाद वह इस हद तक हांफने लगी कि उससे लेटे रहना मुश्किल हो गया।

रात आधी से ज्यादा बीत चली थी। जमदग्नि आंगन-पार वाली अपनी कुटिया में सोये पड़े थे। रेणुका अपनी कुटी में रगों में उबलते लावे से परेशान पड़ी छटपटा रही थी। नासिका रंध्रों से निकलने वाली गर्म भाप उसे बुरी तरह तपा रही थी।

और फिर जब उस भाप ने संयम और विवेक के ढक्कन को

उछाल फेंका तब रेणुका वहां पड़ी न रह सकी। बेकाबू हो कर उठ पड़ी और बिना कुछ सोचे-विचारे बाहर निकल गई। तेज कदमों से आँगन पार किया और सीधी पति की कुटी में जा पहुँची।

रेणुका के पैरों की आहट पा कर जमदग्नि की आंख खुल गयी। भीतर अन्धेरा होने के कारण वह उसे पहचान न सके। पूछा, "कौन है ?"

"मैं हूं स्वामी।" रेणुका की आवाज़ में कम्पन्न था।

जमदग्नि उठ कर बैठ गये। कुछ क्षण रुक कर पूछने लगे, "क्या बात है रेणुके ?"

और उस क्षण रेणुका को अपने भीतर का लावा फट उठा जान पड़ा। उस भूकम्प के धक्के से उछल कर वह पति के पैरों पर जा गिरी और गिड़गिड़ाकर कह उठी, "आपकी धर्मपत्नी आपसे ऋतुदान मांगने आई है स्वामी !"

जमदग्नि पत्नी के मुंह से यह शब्द सुन कर स्तंभित रह गए। उन्हें उस समय कुछ भी सुझाई नहीं दिया कि स्थिति को किस तरह सम्हाला जाये। उनके पैरों में लिपटी रेणुका सुबकती रही और जमदग्नि पत्थर की मूर्ति बने खामोश बैठे रहे।

रेणुका को इस मन:स्थिति में देख कर जमदग्नि को अपनी वर्षों पूर्व की वह दशा स्मरण हो आई, जिस से मजबूर होकर वह राजा प्रसेनजित के द्वार पर जा पहुचे थे। तब उन्होंने नि:संकोच होकर अपना आशय राजा के सामने प्रकट कर डाला था।

और आज उसी संकोच रहित भाव से रेणुका ने अपनी मांग उन के आगे सरका दी है। यह देख कर जमदग्नि बड़े धर्म संकट की स्थिति में आ पड़े। सोचने लगे : 'पत्नी द्वारा ऋतुदान की मांग सर्वथा नीतिसंगत है और मुझ में वह दान दे सकने की सामर्थ्य नहीं। तो फिर ऐसे में मुझे क्या करना उचित होगा ?'

इसी उचित-अनुचित के जाल में उलझते हुए जमदग्नि घंटा इसी

मुद्रा में बैठे रहे। रेणुका उसी तरह तपती-सिसकती अर्द्ध विक्षिप्त-सी उनके पैरों में लिपटी पड़ी रही।

बाहर पौ फटने लगी थी। पक्षियों का कलरव रात के सन्नाटे को विदाई दे रहा था। आंगन के एक कोने में बँधी गाय रम्भाने लगी तो सब से बड़े पुत्र रुक्मवान ने उठकर उसके आगे चारा डाल दिया। सुषेण, वसु और विश्वासु आश्रम की सफाई करने लगे। परशुराम कुल्हाड़ा लेकर जंगल में समिधा लाने के लिए चला गया।

परन्तु जमदग्नि अभी तक उस गुत्थी को सुलझा नहीं पाये थे। पूजा का समय निकला जा रहा था। नित्य के इस कर्म में जिस कारण अवरोध उत्पन्न हो रहा था, उसकी अपेक्षाकृत तुच्छता का विचार आते ही महातपस्वी झुंझला उठे। कुछ देर पहले का उचित-अनुचित का विचार अब झूँझल में धुंधला चला था।

पूरी परिस्थिति अब जो रूप धर कर जमदग्नि के सामने उपस्थित हुई, उसे देख कर वे और भी गुस्से में भर आये। विचार आया कि ऐसे में अगर रेणुका किसी अन्य पुरुष से भी ऋतुदान मांग बैठे, तो भी वह अनैतिक नहीं। क्योंकि प्रचलित नैतिकता में इसके लिए विधान है। इसके अलावा उस "दान" के फलस्वरूप उत्पन्न संतान भी मेरी ही संतान कहलाएगी। तो क्या भृगुवंश अपने ऊँचे मस्तक पर वैसी संतान का काला टीका सहन कर लेगा ?

इस आशंका ने तो जमदग्नि की क्रोधाग्नि को और भी भड़का दिया। और फिर इसी आग के सेंक में जब उन्हें यह लगा कि उनका वर्षों का उपदेश इस नारी ने निष्फल कर दिया है और संयम के सारे प्रवचन मिल कर भी इसके विकार का शमन नहीं कर पाए, तब महा-तपस्वी का अहं आहत सिंह की तरह गरज उठा।

भृगुवंश के "महापुरुष" का घायल दर्प अपने कुल-मन्दिर के कंगूरे पर चढ़कर फुंकार पड़ा। और ऋचीकनन्दन जमदग्नि के मुंह से चीख के स्वर में निकल पड़ा, "कुल कलंकिनी ! तू ब्रह्म तेज से च्युत हुई !

धिक्कार है तेरे जीवन पर !"

इतना कहते ही जमदग्नि ने अपने कदमों में लिपटी रेणुका को ठोकर मार कर परे गिरा दिया और क्रोध में कांपते हुए उठ कर खड़े हो गए।

फिर उसी भयानक स्वर में वह चिल्ला पड़े, "रुक्मवान !!!"

बाहर आंगन में गाय के नीचे बैठा धार निकालता हुआ रुक्मवान पिता की आवाज़ सुनकर दौड़ा दौड़ा भीतर आया और हाथ बाँध कर खड़ा हो गया, "क्या आज्ञा है, पिता जी ?"

घुटनों में मुँह डाल कर रोती हुई रेणुका की ओर तर्जनी का संकेत करते हुए जमदग्नि बोले, "रुक्मवान ! अपनी इस पापिनी माता को अभी मार डालो !"

रुक्मवान कुछ पल तो किंकर्तव्य विमूढ़ खड़ा स्थिति को समझ पाने का निष्फल प्रयास करता रहा। पर फिर उसने उसी तरह हाथ बांध लिए, सिर झुका दिया और नम्र स्वर में पूछने लगा, "पिता जी, माता जी पर आपका इतना क्रोध किस कारण है?"

पुत्र के इस प्रश्न ने जमदग्नि के गुस्से की आग में घी डाल दिया। वह बोले, "तुम्हारा कर्तव्य पिता की आज्ञा पालना है अथवा विवाद करना ?"

"मैं विवाद नहीं कर रहा पिता जी, परन्तु यह मातृवध सा जघन्य कर्म भी मुझ से नहीं बन पड़ेगा। विवश हूँ। क्षमा करें।" रुक्मवान का इन्कार सुन कर महातपस्वी की आँखों में एकैक अङ्गार बरस पड़े। चिघाड़ती आवाज में जमदग्नि बोले, "क्या कहा ? इतना दुस्साहस ! मेरे आदेश का अपमान ! जाओ, तुम्हें शाप देता हूं कि तुम अभी, इसी क्षण जड़-बुद्धि हो जाओ !"

रुक्मवान को शाप देकर जमदग्नि दूसरे पुत्रों को पुकारते-पुकारते द्वार तक गए। आँगन बुहारते हुए सुषेण, वसु और विश्वासु पुकार सुनकर तुरन्त भीतर चले आये।

उन्होंने देखा : पिता क्रोध में भरे खड़े हैं, माता बैठी रो रही है; बड़ा भाई बौराया-सा खड़ा है। ऐसी स्थिति देखते ही तीनों हक्के-बक्के खड़े रह गए और फिर ऊपर से गरजते स्वर में पिता का आदेश गूंज उठा, 'सुषेण ! अपनी माता का वध कर दो !"

सुषेण को लगा जैसे किसी ने उसके सिर में मूंगरी मार दी है। उसकी जबान तक को जैसे लकवा मार गया। कई क्षणों तक जब वह कुछ न बोला, तब जमदग्नि ने बसु को सम्बोधित कर के पूछा, "बसु तुम ?"

वसु भी चुपचाप सिर झुकाए खड़ा रहा। उसकी ओर से भी जब कोई उत्तर नहीं आया तब जमदग्नि के स्वर में आक्रोश तड़प उठा। विश्वासु की ओर देख कर बोले, "विश्वासु, बोलो, तुम क्या कहते हो ?"

विश्वासु भी ठगा-सा खड़ा रह गया। कोई जवाब न दे सका। इस पर जमदग्नि उन तीनों की ओर आग्नेय नेत्रों से देखते हुए दहाड़ पड़े, "तुम तीनों की विचार शक्ति भी अभी नष्ट हो जाए ! जाओ, यह मेरा शाप है !"

इतने में पांचवां पुत्र परशुराम समिधा का गट्ठर सिर पर लादे हुए लौट आया। पिता की दहाड़ सुनी तो गट्ठर पटक कर भीतर लपक आया। कुल्हाड़ा अभी तक उसके हाथ में ही था।

जमदग्नि ने उसे देखते ही आदेश दे डाला, "परशुराम ! अपनी इस पापिनी मां को अभी इसी कुल्हाड़े से दो टूक कर दो !"

आदेश सुनते ही परशुराम ने आव देखा न ताव, झट से कुल्हाड़ा उठाया और रोती हुई मां के सिर पर खड़ाच् से दे मारा। कुल्हाड़ा लगते ही खोपड़ी दो फाँक हो गई, लहू की तेज़ पिचकारी-सी फूट पड़ी और देखते ही देखते रेणुका का शरीर एक बार फड़फड़ा कर ढेर हो गया।

उपसंहार :

और फिर यही जमदग्नि-नंदन परशुराम आगे चल कर भगवान परशुराम के नाम से प्रसिद्ध हुए। और इनकी यही शोणित-स्पृहा बाद में धर्म का कवच ओढ़कर क्षत्रिय संहार के रूप में सामने आयी। इन्होंने इक्कीस बार इस पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दिया और समंतपंचक नामक क्षेत्र में पाँच सरोवर खून से भर डाले।

गीली पट्टी

प्रीतिमा ने स्कूल से लौट कर कपड़े बदले, मुंह-हाथ धोया और शाम का खाना तैयार करने रसोई में चली गयी।

छींके से कुछ सब्जी एक थाली में निकाल कर काटने ले बैठी।

पति के दुकान से लौटने में अभी देर थी। मगर उनके आने से पहले ही उसे खाना लगभग बना डालना था, दाल-भाजी पक चुकी हो, आटा मला हुआ हो। चूल्हे के पास बैठ कर ताज़े सिके फुलके खाना 'उन्हें' अच्छा लगता है। वह सेंक-सेंक कर परसती जाये और 'वे' खाते जायें, यह दृश्य उसे भी भाने लगा है।

आलू टमाटर काट कर उसने दूसरे भगोने में रख दिए हैं और अब मसाले के लिए प्याज छीलने लगी है। चाकू कुछ तेज़-धार है। हाथ धीरे-धीरे चल रहे हैं।

उनके लौटने में अभी देर है। और फिर दो जनों का ही तो खाना है! बन जायेगा! कौन सी आफत है! स्कूल में भी तो अब दिन भर यही सब सिखाना-पढ़ाना होता है। पहले वह साहित्य पढ़ाती थी। अब फिर से उसी स्कूल में काम तो मिल गया है,

अगर इस बार उसे होम-साइन्स की शिक्षिका नियुक्त किया गया है। साहित्य के लिए इस बीच कोई दूसरी मास्टरनी रखी जा चुकी है।

यूं, नौकरी के बिना भी उसका काम तो चल ही सकता है। पति की स्टेशनरी की दुकान छोटी-मोटी दुकान गिरस्ती चलाने लायक तो जुटा ही देती है। पर नौकरी वह तब भी करती थी, अब फिर कर ली है। पहले आर्थिक स्वतन्त्रता की ज़रूरत से, अब स्वीट-होम की स्वीटनेस बढ़ाने को।

प्याज़ की कड़ुवाहट से आंखों में आये पानी को पोंछ कर फिर से प्याज़ छीलने लग गयी है। पर दीठ अभी भी धुंधलायी हुई है। कड़ुवाहट भी कुछ-कुछ बाकी है। और एक कसैली याद घिर आयी है:

जब वह कॉलिज-कन्वोकेशन से सुरजीत के साथ ही बी० ए० की डिग्री लेकर लौट रही थी, सुरजीत ने अपने और उसके बरसों के प्यार को दाम्पत्य की टेक देने का प्रस्ताव रखा। प्रीतिमा उस प्रस्ताव का समर्थन नहीं कर पायी। नये-पुराने कई लेखकों के कोटेशनों के किताबी तर्क तेज धार चाकू बन कर उसके हाथ में आ गये और फिर उस चाकू से उसने अपनी नारी को काट-छील डाला था।

दो छिलके : एक प्रेमिका, एक पत्नी। प्रेमिका प्रेमी की, पत्नी पति की। प्रेमी की पत्नी नहीं, पति की प्रेमिका नहीं। मन की मांग एक, तन की तपन दूसरी, दोनों अलग-अलग। एक को सुरजीत की बुशशर्ट की बायीं जेब में डाल दिया, दूसरे को अपने ब्लाउज़ और बॉडीस के नीचे की घाटी में रख कर टा-टा करके विदा हो आयी थी।

और फिर जब मां-बाप ने बेटी का डोला विदा किया था, तो पति अमरसिंह उस घाटी वाले छिलके को लेकर अपनी फूलों-सजी सेज पर आया था। पर जब ताजे महकते फूलों की शैय्या पर वह छिलका कड़-कड़ा आया, तो अमरसिंह को लगा, सेज के सारे फूलों की पत्ती-पत्ती उस सूखे छिलके ने बींध डाली है। अमर ने ठगी-सी निगाहों प्रीतिमा की ओर निहारा। प्रीतिमा को अमर की नासमझी पर तरस आया और

जैसे मन्द-बुद्धि छात्र को विज्ञ शिक्षक समझाता है, कुछ उसी तरह उसने अमर को अपनी छिलकों की थ्योरी समझायी थी।

अमर ने प्रीतिमा की कन्वोकेशन के अवसर पर खिंची फोटो देखी थी। यूनिवर्सिटी की रोल की हुई डिग्री, गाउन और हुड, आत्म-निर्भरता की मस्ती में खिला-निखरा सुन्दर चेहरा।

और अमर अब सुन रहा था, ज्ञान की नयी थ्योरी जो उसके इण्टरमीजिएट के कोर्स में नहीं थी। अगली क्लासों की थी शायद। अगली क्लास में वह जा नहीं पाया था और इण्टर करके ही उसे स्टेशनरी और स्कूली किताबों की दुकान खोलनी पड़ी थी।

प्रीतिमा ने अपनी थ्योरी खोल कर समझायी। अमर के संस्कार ने न समझने की ज़िद भी की, लेकिन तभी प्रीतिमा का कन्वोकेशन का चित्र फिर उसके सामने आ खड़ा हुआ। इसलिए उसे समझना पड़ा और समझौता हो गया। समझौता हो गया, कि घाटी वाला छिलका अमर ले लेगा और वह सुरजीत की बुशशर्ट की बायीं जेब में पड़े छिलके को मांगने की अनाधिकार चेष्टा नहीं करेगा। वह बिज़नेसमैन था और समझौते या कांट्रेक्ट को तोड़ना बिजनेस के नियमों के खिलाफ़ था।

दिन भर वह दुकान में होता और प्रीतिमा स्कूल में। शाम को दोनों खाने पर मिलते। घर-गिरस्ती की छोटी-मोटी बातों या इधर-उधर की हल्की-फुल्की चर्चा के बाद अमर तो सो जाता, मगर प्रीतिमा लिखने-पढ़ने में लग जाती। इधर कुछ कविताएं भी उसने अच्छी लिखी थीं।

शुरू-शुरू के दिनों में ही एक रात की बात, कि अमर समझौते वाले अपने हिस्से आयी चीज की मूड में था, पर प्रीतिमा थी उस रात मन की किसी मांग को काव्याभिव्यक्ति द्वारा पूरने के प्रयास में। अमर द्वारा बड़ी शिष्ट और सांकेतिक भाषा में उस समझौते की याद दिलाने

पर भी प्रीतिमा भड़क उठी थी, "मैं कोई वेश्या नहीं, कि तय हुआ है, तो..."

"तो मैं भी तुम्हारा कोई ज़रखरीद नहीं। मैं भी कुछ चाह सकता हूँ!" अमर की आवाज में तेज़ी होते हुए भी चेहरे पर आजिज़ी थी। इसी द्वंद्व की मार से निढाल हो कर करवट बदल कर लेट गया।

इस तरह की एक रात की बात अब अक्सर रातों की बात बन चुकी थी और कभी-कभी तो हर बात पर बात और यहां तक, कि बिना बात के भी बात बन जाने की नौबत आ चुकी थी।

पर अमर यथासम्भव समझौते को निबाहने के प्रति सदा सतर्क रहता। यद्यपि वह गाहे-गाहे प्रीतिमा को इस बात की याद भी दिला ही देता, कि उसने ही अपना प्रस्तावित समझौता तोड़ा है, जबकि वह बराबर उसे निबाह रहा है।

मगर प्रीतिमा को यह याददहानी भी नागवार गुज़रती। और वह गुर्रा-सी उठती, "आखिर आप चाहते क्या हैं?"

"चाह सकने लायक तुमने छोड़ा ही क्या है?"

"तो जो है, उसे भी क्यों नहीं छोड़ देते? तलाक क्यों नहीं दे देते मुझे? मैं इस तरह घुट कर नहीं रह सकती।"

"तो जहाँ रह सकती हो, वहीं चली जाओ ना!" अमर ने चीख कर कहा।

प्रीतिमा की आँखों में खून उतर आया, "हाँ, हाँ! चली जाऊँगी! वहीं चली जाऊँगी।"

और वह गुस्से के मारे लड़खड़ा कर गिरती-गिरती कुर्सी की पुश्त के सहारे सम्हल गयी थी।

इधर वह काफी तीव्रता से स्वयं भी महसूस करने लगी थी, कि वह स्वभाव की चिड़चिड़ी होती जा रही है और हर ऐसे अहसास के अवसर पर उसे लग आता, कि वह कहीं घायल हो गई है, मगर पता

नहीं चल रहा, कि घाव कहाँ है, क्योंकि फौरन ही उस घाव की पीर पोर-पोर में रम जाती।

सुरजीत की भी इस बीच शादी हो चुकी थी। उस की पत्नी एक सुशिक्षित नारी, सफल गृहिणी और एक अच्छी जीवन-संगिनी सिद्ध हुई थी। सुरजीत सब कोनों सन्तुष्ट था और अपनी वह बुशर्ट उसने उतार फेंकी थी, जिसकी जेब में प्रीतिमा का डाला हुआ छिलका था।

सुरजीत और उसकी पत्नी इन्द्रा दोनों एक ही दफ़्तर में काम करते थे। शाम को दफ़्तर से लौट कर इन्द्रा खाना बनाती। सुरजीत घर के और छोटे-मोटे काम देखता। फिर दोनों खाना खाकर एक साथ घूमने जाते। कभी पिक्चर या क्लब का प्रोग्राम रहता, तो कभी किसी मित्र या रिश्तेदार के यहां हो आते। दो अच्छे दोस्त पारस्परिक आदान-प्रदान से एक-दूसरे के मन की मांग पूरते, तन की तपन बुझाते और दिख आते—दाम्पत्य को शान्त, ठहरी, उदार झील-से।

प्रीतिमा अक्सर सुरजीत के घर आती-जाती रहती। इन्द्रा अपने पति की क्लास-फैलो का मान-सत्कार करना अपना फर्ज़ समझती थी। सुरजीत भी ज़्यादातर तो वही फर्ज़ पूरा करता-सा नज़र आता, पर मन में कहीं वह आशंकित भी था, क्योंकि प्रीतिमा की थ्योरी से परिचित था और उसके छिलकों से उसे डर लगता था। उसने कई बार अपना वह डर प्रीतिमा के आगे उघाड़ा भी। पर प्रीतिमा पर उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई और वह अपने मन की माँग पूरने वहां आती रही और पूरे जाने का भ्रम ओढ़ चली जाती रही।

यह आना-जाना बराबर जारी रहा। और जारी रहा वह पोरों

की अजानी पीर का क्रम भी, जिसमें सब से कष्टकर स्थिति यही थी, कि घाव अदिख थे और घाव-स्थल अस्पष्ट। यूं कभी-कभी उधर या इधर कुछ देर को एसा ज़रूर लग आता, कि वह अब ठीक है, पर उधर रहती तो फिर कुछ कसक उठता, इधर आती, तो कुछ कड़क आता। और कसक-कड़क की इस प्रक्रिया में उस घाव पर आया खरीड फिर-फिर तड़क जाता और पीर तैर-तैर आती।

प्रीतिमा की कुंठाओं से लिथड़ी निराश भरी, पर छूती-सी कविताओं को पत्र-पत्रिकाओं में पढ़कर सुरजीत को दुख भी होता और सहानुभूति भी, पर होता यह सब तरस-भाव के ही आस-पास कुछ। मगर उन कविताओं के अर्थ इन्द्रा की समझ में कुछ कम ही आते और न उस पर उनका कोई बिशेष प्रभाव ही पड़ता। वह अक्सर उन्हें फेण्टेसी कह कर हलका-टाल देती और साहित्यिक बहस छिड़ जाती।

"यह तुम्हारी अति-भावुकता जीवन और साहित्य दोनों के लिए कैन्सर है प्रीतिमा!"

"पर इन्द्रा, जो है, उससे इन्कार कैसे किया जाय! कैन्सर है, तो भी तो रोगी कराहेगा ही। यह सोच कर चुप नहीं रहेगा, कि उस की कराहें औरों को परेशान कर सकती हैं।"

आखिर एक दिन बातों-बातों में कुछ ऐसा हुआ, कि इन्द्रा के सामने प्रीतिमा की गांठ नगी हो आयी। और अब इन्द्रा को भी प्रीतिमा की कविताओं के भाव समझ आने लगे। उन्हें हलका अब वह सकती नहीं थी। अतः साहित्यिक-बहस बन्द हो गई।

मगर प्रीतिमा इस खामोशी का कारण न समझ सकी। उसके भीतर इतना शोर था कि इस तरह की खामोशियां गिन पाना उसके लिए मुश्किल था। उसके हिरण की गांठ को इन्द्रा देख चुकी थी। पर स्वयं प्रीतिमा नहीं देख पायी थी। पायी होती, तो हिरण की बेतहाशा भागम-भाग निःशेष हो आती।

ग्रन्थियों की जकड़न प्रीतिमा को कई बार कोलैप्स के किनारे से लौटा लायी थी। ऐसे ही लमहों में उसकी कोई-न-कोई भीतरी माँग सिर उठा बैठती, जिसे किसी भी प्रयास का दबाव बैठा न पाता। और वह बराबर अपनी मांगों को लिये-लिये सुरजीत के पास आती रही—भीतर इकट्ठे हुये गुब्बारों से ठसाठस भरे स्टोर को खाली करने, मगर खाली करने के इस प्रयास में आगे से भी अधिक भरी हुई लौटती। जिन भावों को बोल दे पाती, देती। जिन्हें कह न पाती, उन्हें सहती रहती और सहा हुआ अक्षर-रूप पाकर कागज पर संग्रहीत होता रहता।

प्रीतिमा के भीतर का संग्रह दिनोदिन बढ़ता जा रहा था। वह उसे किसी को अर्पित करना चाहती थी। करती, मगर अर्पित किया भी अस्वीकृत लौट आता। इसीलिए उसने अर्पण का माध्यम ऐसा चुना, जिससे वह न लौट पाये। और जब प्रीतिमा की कविताओं का संग्रह प्रकाशित होकर आया, तो उसके पहले ही पन्ने पर समर्पण था—'सुरजीत को'। वह समर्पण यदि संग्रह के पहले पन्ने पर ही रहता, तो साहित्यिक बहस का विषय होकर रह सकता था, मगर उस समर्पण की कलम इन्द्रा-सुरजीत की किताब के बहुत बीच के पन्नों पर भी चलने लगी थी और अब बहस साहित्यिक न रही थी।

एक बार प्रीतिमा के मन की कई माँगें एक साथ उभर आयीं और वह इन्हें पूरा करने के लिए कई हफ़्तों तक सुरजीत के यहाँ आकर ठहरी। ठहरी, तो सुरजीत-इन्द्रा के दाम्पत्य की शान्त, ठहरी झील में हलचली लहरियां उठ आयीं।

"प्रीतिमा के इस तरह यहां रहने के बारे में आपका क्या खयाल

है ?"

"मेरा ख़याल पूछ कर तो वह यहाँ आयी नहीं, यह तुम भी जानती हो !"

"पर आख़िर यह तुम्हारा घर है। तुम नहीं चाहो, तो वह कैसे रह सकती है !"

"तो गोया तुम समझती हो, कि मैं ही उसे यहां रखे हुए हूँ !"

"मैं सब समझती हूँ, पर अब सिर्फ इतना चाहती हूँ कि आप उसे यहाँ से विदा कर दें तो अच्छा है।" इन्द्रा का स्वर इतना गम्भीर था, कि सुरजीत आगे कुछ कह नहीं सका।

हुआ यह था, कि अमर से किसी बात पर नाराज़ होकर प्रीतिमा सुरजीत के यहां आ गयी थी। अमर मनाने आया तो बात तूल पकड़ गयी। प्रीतिमा नहीं गयी। अमर लौट गया। सुरजीत परेशान हुआ। इन्द्रा खिन्न और प्रीतिमा हतप्रभ।

इन्द्रा से अब प्रीतिमा को पति की क्लास-फैलो का मान-सम्मान देते नहीं बन रहा था। पर खुल कर असम्मान करते भी उससे बना नहीं। भीतर-ही-भीतर घुलते ही उससे बन आता रहा। बनी-बनायी गिरस्ती उजड़ने की आशका में ग्रस्त वह हर समय त्रस्त-सी रहने लगी थी। इन्द्रा और सुरजीत अब भी एक ही दफ़्तर में काम करते थे। पर साथ-साथ दफ़्तर जाने और इकट्ठे लौटने, लौट कर मिल-बैठ-खाने और फिर संग-संग घूमने जाने के कार्यक्रम कुछ गड़बड़ा आये थे।

प्रीतिमा इस गड़बड़ी को देखती भी, अपने पर झल्लाती भी, सुधारने को होती भी, पर अपनी हर कोशिश को नाकाम पा, वह आत्म-ग्लानि में घिर आती। वह अपने जाने पूरी ईमानदारी से और पूरे मन से चाहती थी, कि इन्द्रा और सुरजीत वे ही रहें, जो थे। जो थे, उसमें उसका होना कुछ भी अन्यथा न कर दे, पर जाने क्यों, फिर भी अन्यथा ही होता आया और वह समझ नहीं पाई। समझ नहीं पाई, तो मात्र अपने को वहां से हटाने के लिए ही एक दिन उसने

वापिस अपने घर लौट जाने का फैसला कर लिया और चली आयी। आयी, तो अमर ने उसे आने दिया। गोया वह आश्वस्त था, कि प्रीतिमा को आना ही था और उसे उसको आने देना ही था।

अमर का इस तरह झुकना प्रीतिमा को अपने आप पर व्यंग्य जान पड़ा और इस बार वह बड़े ज़ोरों से चाह उठी थी, कि अमर और अपने बीच हुए समझौते को रद्द कर दे। पति की सहिष्णुता प्रीतिमा को अपने घाव की पीक लग उठी। वह पीक जब तक रहेगी, घाव टीसता रहेगा। वह तिलमिला उठी, कि भींच कर सारा मवाद निकाल फेंके। अमर के क़दमों में लोट-लोट जाये, मगर उसकी नारी का दर्प आहत होकर भी अपनी हार खुले-खुले स्वीकार करने को सहमत न हो सका।

और वह बराबर अपने हठ की हड्डियां चबाती रही। हड्डियों के नुकीले टुकड़े उसके भीतर के मसूड़ों में खुभते-बिंधते रहे। घाव से खून रिसत रहा। मीठी-अचीन्ही पीर रसमसाती रही। और अपने ही रक्त के स्वाद को हड्डियों का स्वाद समझ वह चूसती-चबाती रही।

एक दिन फिर अचानक कुछ कसक-कड़क आया। नौकरी भी छूट गयी, और वह अमर और स्कूल दोनों से दूर हो सुरजीत के पास बम्बई चली गई।

सुरजीत को वहाँ तबादले पर आये अभी एक सप्ताह भर भी नहीं हुआ था। इन्द्रा अभी दिल्ली वाले दफ़्तर में ही थी। पति की अचानक ट्रान्सफ़र हो जाने से परेशान भी थी और कुछ-कुछ हैरान भी। हैरानी तो खैर जल्दी ही दूर हो गयी, जब पता चला कि ट्रांसफ़र ई नहीं, करवाई गई है और प्रीतिमा की नौकरी भी छूटी नहीं, छोड़ी गई है। मगर परेशानी से वह पार नहीं पा सकी थी और एक दिन एक सप्ताह की छुट्टी लेकर सुरजीत को सूचित किये बिना ही वह बम्बई जा पहुँची।

घर में जाकर जो देखा, उस से समझौता करने के लिए वह अपने को मना न सकी थी। सुरजीत भी उसे समझा न सका, कि वह चाहते हुए भी प्रीतिमा को वहाँ ठहरने ले मना न कर सका था और फिर उस रात मना न कर पाया, प्रीतिमा की उस मांग को, जो मन से उठ कर तन के पोर-पोर में तीर-सी तैर गयी थी। हालांकि बाद में सुरजीत अपने को इस बात के लिए भी मना नहीं कर सका था कि जो हुआ है, वह टाला नहीं जा सकता था।

अपनी हार की ग्लानि में डूबी हुई प्रीतिमा लौट आयी है—फिर अपने काम पर, फिर से अपने घर में। काम का विषय बदल गया है—स्कूल में भी, घर में भी। स्कूल में गृह-विज्ञान पढ़ाकर अपने रसोई-घर लौटी है।

जिस दिन से वह लौटकर आई है, अमर उसके भीतर कुछ लौटा हुआ देख तो रहा है, पर अपने समझौते पर टिका हुआ है। भीतर के विभाग में दखल देने की उसकी हिम्मत नहीं हो रही। वह आ गई है, काफ़ी है, मगर प्रीतिमा के लिए अब यह काफ़ी नहीं। वह काफ़ी क्या हो, यह भी साफ नहीं। पीर है, घाव है। कहां है, पता नहीं। पता नहीं, तभी तो अब तक तप रही है कुछ-कुछ झलक दिख भी आयी है, मगर निश्चित और दृश्य नहीं। दीठ के आगे जाला-जाला-सा कुछ है। हट-कट नहीं पा रहा है।

और प्याज की कड़वाहट फिर से आँखों में भर आयी है, पर तन-मन की थकन ने रग-रग में ऐसी अलसाहट घोल दी है, कि पल्लू उठाकर आँखों तक ले जाना भी भारी पड़ गया है।

चाकू की धार तेज है। हाथ वैसे भी धीरे-धीरे चल रहे हैं और प्याज भी कटने की बजाय उधड़-से रहे हैं।

अमरसिंह दुकान से आने ही वाला है। काम अभी सारा पड़ा है। प्रीतिमा उठकर जल्दी जल्दी सारा काम निपटाना चाह रही है, मगर उठने की सकत साथ नहीं दे रही है।

ऊपर-नीचे की पलकों को ज़ोर से भींच आंखों में घुली प्याज की कसैली गेस उसने गालों पर निचोड़ दी है। पुतलियों के आगे का कोहरा कुछ छंट गया है, मगर आसमान आज भी साफ़ नहीं है। छोटी-छोटी बदलियों के कई टुकड़ें इधर-उधर दौड़ रहे हैं। देखते-ही-देखते जुड़ कर घटा बन आये हैं।

और अचानक बड़ी ज़ोर की गरज के साथ बिजली कड़क आयी है: 'तब, जब उससे अपनी इकाई को काट-छील कर अपनी नारी की कमर तोड़ ली थी।' और अब झुकी बैठी है, हर पुराना समझौता तोड़ने को, हर नया ओढ़ने को। कटे छिलकों को बटोर-संजो लेना चाह उठी है। बिजली कड़क गयी है। घटा कट आयी है।

तस्वीर का वही पोज़ सामने हेर-फेर लाना चाह रही है, जिसमें उसकी नारी कटी नहीं, छिलके उधड़े नहीं, छिलके जुड़े हुए हैं, रस को संजोये हुए हैं। पर जो चित्र उसे घेर-घेर रहा है, वह है, कि छिलके छिले हुए हैं, रस छितरा गया है, छिलके सूख आये है।

फिर-फिर चाह उठी है, छिलकों को बटोर-भींच-जोड़ एक कर दूं। मगर सामने की थाली में प्याज़ के छिलकों का ढेर लग गया है। और हाथ खाली हो आया है। पर हाथ अभी भी चल रहा है। चाकू कुछ तेज धार है। बायें हाथ की तर्जनी घाव खा गयी है, खून बह आया है।

तर्जनी !.........घाव !.........खून !.........

प्रीतिमा ने घाव देखते ही छुरी हाथ से फेंक दी है। अमर दुकान से लौट आया है। प्रीतिमा ने 'घाव' पति के आगे सरका दिया है और खाने में देर हो जाने के लिए क्षमा-याचना की है। अमर ने 'घाव' का 'खून' पोंछ कर गीली पट्टी बाँध दी है और पाँवों पर लुढ़कती-सी प्रीतिमा को बाँहों का सहारा देकर उठा लिया है। ●

हस्ताक्षर

प्रमिला को नीलगिरि हिल्स से शिमला लौटे तीन दिन हो गये थे। वह अपने भीतर जग उठे नये दर्द को लोरियां दे-देकर थपकती रही। पर दर्द सोया नहीं। कच्ची नींद से जागे बालक-सा रोता-चीखता रहा। और प्रमिला रह-रह कर छिड़-छिड़ जाती रही।

इन तीन दिनों में उसने कई बार चाहा कि सुरेन के यहाँ हो आऊं। पर हर बार जाने क्या सोच कर रुक जाती। वहाँ जाने में उसे पहले कभी इस तरह की झिझक नहीं हुई थी। जब जी में आता, बेधड़क जा पहुँचती। मगर अब जाने कौन-सा संकोच आड़े आ रहा था।

सुरेन को प्रमिला के लौटने की सूचना नहीं मिली थी। वरना वह खुद आ जाता। अपने और प्रमिला के बीच अब वह इस तरह की औपचारिकता को निकल चुकी महसूस करने लगा था कि वह आये या बुलाये तभी जाये।

इतवार की शाम को प्रमिला अपने कमरे में दर्शन-शास्त्र की मोटी किताबों के बीच बैठी अगले दिन के लैक्चर की तैयारी कर रही थी

कि उसकी नौकरानी शरबती ने ग्राकर सूचना दी, "बीबी जी, सुरेन साब ग्राए हैं।"

प्रमिला हड़बड़ा कर उठ बैठी। जैसे-कैसे ग्रपने को संयमित करके वह ज्योंही पर्दा हटा कर ड्राइंग-रूम में दाखिल हुई कि सामने ही सोफे पर बैठे सुरेन पर निगाह पड़ी।

सुरेन ने प्रमिला को देखते ही पूछा, "कब ग्रायीं ?"

प्रमिला ने सामने बैठते हुए कहा, "तीन दिन हो गए।"

"ग्रौर खबर तक नहीं ?" सुरेन ने मीठे उलहने के ग्रंदाज में कहा, "वह तो ग्रभी माल रोड पर टहलते समय तुम्हारी सहेली हिस्ट्री की लेक्चरर...वह क्या नाम है उसका..."

"क्या मिसज सेठी ?"

"हाँ, वह मिल गयी तो पता चला। वरना मैं तो यही समझे बैठा था कि शायद तुमने छुट्टी बढ़वा ली है।"

"नहीं, छुट्टियाँ तो इस साल की ग्रौर बची ही नहीं थी। सब खा बैठी हूँ।"

"खैर तो खूब सैर हुई नीलगिरी की ?"

"ग्र-ग्रां हुई ही। हटाग्रो, ग्रौर सुनाग्रो, क्या नया लिखा-पढ़ा इस बीच ? कोई नयी कहानी लिखी ?" फिर थोड़ी देर तक इधर-उधर की दो-एक बातों के बाद प्रमिला ने शरबती को बुला कर चाय बनाने के लिए कहा।

उसके बाद ड्राइंग-रूम में काफी देर तक एक ग्रनचाही खामोशी का सीलन-सना वातावरण बना रहा। चाय भी ग्रायी। पी गयी। पर बात शायद ही कोई हो सकी।

मगर वह चुप्पी जब झिल नहीं सकी तब प्रमिला ने ही उसे तोड़ते हुए कहा, "किसी कहानी की थीम सोच रहे हो क्या ?"

"ग्रं ?..." सुरेन चौंक-सा उठा। नहीं-नहीं, यूं ही...मैं...मुझे तो ध्यान ही नहीं रहा कि..."

"खैर, मैंने तो इसलिए पूछा कि मेरी उपस्थिति बोर कर रही हो तो..."

"क्या कह रही हो ?" सुरेन उस क्षण कुछ ऐसी पिघलती निगाहों प्रमिला की ओर देख गया कि वह उठती-उठती फिर बैठ गयी। सुरेन की उस कातर दृष्टि की बात ढुलखने का साहस प्रमिला को नहीं हुआ। पल भर को उसे यूं जान पड़ा जैसे जबरदस्ती सोफे के साथ बाँध कर बिठा दी गयी हो।

मगर अपनी अवशता पर उसे उस क्षण कोई ग्लानि, दुख या पछतावा नहीं हुआ। हुआ तो महज़ एक अजनबी किस्म का कसकीला-सा कुछ, जिसे वह चीन्ह नहीं पायी।

उस अचीन्हें एहसास से लिपटी-सिमटी प्रमिला बड़ी देर तक ढीली नजरों सुरेन को तकती रही। सुरेन ने आखिरी कश खींच कर ऐश-ट्रे में सिगरेट बुझा दी और फिर सोफे में पीठ टेक कर दोनों हाथों की उंगलियों को एक-दूसरे में शिकजे की तरह कस कर मरोड़ दिया। दो-चार कड़कड़ की ध्वनियां निकलीं। फिर प्रमिला को ऊपर से नीचे तक ताका तो वह कुछ विचित्र-सी मूड में लगी।

सुरेन :

बरसों की मैत्री है प्रमिला से। अक्सर एक बात पूछने को जी हो-हो आता। पर कुछ संकोच आड़े आ जाता। हालांकि वह मेरे साथ काफी फ्रेंक थी पर अपने अतीत का जिक्र उसने कभी नहीं आने दिया था। जब-जब बातों-बातों में अनायास भी ऐसा कोई प्रसग आ गया, तब-तब वह उस प्रसंग पर से फिसल कर आगे बढ़ जाती और यथासम्भव व्यतीत की चर्चा को इस अन्दाज़ से टाल जाती गोया वह

बेकार की या अप्रासांगिक बात हो।

मुझे उस के अतीत में झांकने की कभी उत्सुकता नहीं हुई। न अब तक है। और न ही मुझे कभी यह जानने की जरूरत महसूस हुई कि वह प्रायः नीलगिरि हिल्स क्या करने जाया करती है। क्योंकि मेरी दृष्टि में इस तरह कुरेदना हल्कापन है।

मनोविज्ञान का प्रोफेसर हूं। जानता हूं: कुरेदने से सम्पर्कों का पलस्तर झर-भुर जाता है। और फिर कहानीकार भी हूं। इस नाते तो इस तरह के कुरेदने की बारीकियों से और भी अधिक परिचित हूं।

मैं तो उससे जो बात पूछना चाहता था, उसका सम्बन्ध प्रमिला के विगत से न होकर अनागत से था। पर फिर भी जाने क्यों अवसर वह बात मेरे दांतों में ही कट कर रह जाती थी।

परन्तु अबकी बार जब वह नीलगिरि से होकर आयी तो काफी उखड़ी-उखड़ी सी लगी। और मुझे लगा कि अवसर है, जरा-सा छू दूंगा तो छिड़ पड़ेगी। यही सोच कर मैंने कह डाला, "प्रमिला, एक बात है।"

इस पर उसने एक खामोश, मगर प्रश्नसूचक दृष्टि मेरे ऊपर टांग दी। मैं कुछ अटक गया तो बोली, "कहो न!"

मैंने साहस बटोरने का प्रयास करते हुए कहा, "कहना ही क्या, पूछना है कि तुम..."

उसने भांप लिया कि मैं संकोच की असुविधा महसूस करने लगा हूं। फिर बोली, "कहो न, रुक क्यों गए?"

"सोचता हूं, कहीं पूछना गलत न हो जाय।"

"ऐसा कुछ नहीं होगा, सुरेन। खुल कर कहो।"

"अपने भविष्य के बारे में तुम्हारे दिमाग में क्या नक्शा है?" मैं जल्दी से कह-फेंक गया। और यह जानकर खुश भी हुआ कि अपनी बात बड़े ही निर्दोष पर स्पष्ट शब्दों में कह दी है।

मगर प्रीतिमा की निगाहें झुक गयीं। दोनों जबड़े भिच आये।

शब्दों का चबाती-सी कहने लगी, "नक्सा तो सुरेन, कभी बनाया था, मिट गया। अब कुछ नहीं है।"

मैंने साहस बटोर कर कहा, "मिटी लकीरें फिर खींची जा सकती हैं।"

प्रमिला ने एक नये कोण से मुझे ऊपर से नीचे तक एक बार देख कर कहा, "नक्शा जिस कागज पर बनाया था न, सुरेन, वह इस कदर फट गया है कि नयी लकीरें उभर नहीं पायेंगी।"

"फटी चीज़ जुड़ भी सकती है, प्रमिला।"

"मगर वह भद्दी लगेगी, मानोगे न ?"

"ढंग से जोड़ा जाय तो जोड़ दिखेंगे नहीं।"

"भले ही न दिखे, सुरेन, पर होंगे तो। नयी लकीरों के नीचे रड़क तो पैदा करेंगे ही। और जब-जब छुएंगे, चुभेंगे भी।" नम्र स्वर में कहे गये इन शब्दों के साथ प्रमिला ने एक बड़ी बेकस और मजबूर किस्म की निगाह मेरे आगे बिछा दी। गोया कहना चाह रही हो : मैं विवश हूँ सुरेन, वरना मैं कभी मना न करती।

थोड़ी देर रुक कर मैंने तर्क के अंदाज़ में कहना शुरू किया, "एक बात बताओ।"

"पूछो।"

"नकशे जिंदगी के लिए हैं या जिंदगी नक्शों के लिए ?"

प्रमिला से कोई उत्तर न बन पड़ा। ठगी-सी रह गयी। फिर मैं अपनी बात जारी रखते हुए कहने लगा, "इतने बरस में इतना तो जान ही सका हुँ कि तुम निश्चित रूप से कोई दर्द पाले फिर रही हो। पर जिंदगी हर चीज़ से परे है, ऊपर है। और दर्द, कोई इस काबिल नहीं कि उसे जान-बूझ कर पाला जाय। चाहे जितनी कीमत चुकानी पड़े, चुका कर दर्द से मुक्ति पा लेना ही श्रेयकर है।"

प्रमिला अब भी मौन रही। उस समय एक अजीब-सी नशीली अलसाहट उसे अपनी रगों में रेंगती हुई महसूस होने लगी थी। पर

मैंने बोलना बन्द किया तो साफ महसूस किया कि वह बेचैन हो आयी थी।

बाहर पानी बरसना भी शुरू हो गया था। खिड़की की राह कुछ छींटे आने लगे तो प्रमिला ने उठ कर खिड़की बन्द कर दी।

सामने मेज़ से पैकेट उठा कर मैंने एक सिगरेट निकाल ली। फिर तम्बाकू की सतह हमवार करने के लिए उसे माचिस के ऊपर ठोकता हुआ कहने लगा, "प्रमिला, तुम्हारी बात से लगता है कि भावावेश में कहीं ठेस खा बैठी हो। जज़्बात के महत्व को मैं नकार नहीं रहा। मगर यह फिर भी एक जलता हुआ सत्य है कि भावावेश वहीं तक स्तुत्य है जहाँ तक वह जीवन को सांसें देते हैं। उसके बाद वह एक ज़हरीली गैस बन जाते हैं, जिसे जिंदगी के फेफड़ों में घुसने नहीं देना चाहिए, वरना जीवन कैंसर का फोड़ा बन कर रह जायेगा।"

मैंने सिगरेट सुलगा कर फिर से सोफे में पीठ टेक ली। प्रमिला जिस सोफे पर बैठी थी वह दरवाज़े के कुछ पास पड़ता था। पानी की तेज़ बौछार आयी और उसने उठ कर किवाड़ उढ़का दिये।

लौट कर बैठती हुई कहने लगी, "शिमला के मौसम का भी कुछ ठीक नहीं, कब बरस पड़े, कब खुल जाय।"

मैंने मौसम की बात का सूत्र पकड़ते हुए कहना शुरू किया, "प्रमिला, शिमला के मौसम की बात से मुझे जिंदगी के मौसम के बारे में भी कुछ इसी से मिलती-जुलती बात सूझ पड़ी है।"

इस पर प्रमिला ने मज़ाक में बात टालने की ग़रज़ से कहा, "हां कहानीकार तो हर बात में कोई सिमली और रूपक ही ढूंढ़ेगा।"

इस पर मैं झट से बोल पड़ा, "इसीलिए न, कि उसे जिंदगी के सही रूपक की तलाश रहती है!"

"पर मिलता भी है?" उसने अपने मज़ाक की टोन को सप्रयास बरकरार रखते हुए कहा।

मैंने उत्तर दिया, "मिलने की उम्मीद तो वह कभी नहीं छोड़ता।

और बस यही काफी भी है। वरना हर इनसान तुम्हारी तरह हथियार डाले सैनिक-सा कन्सेंट्रेशन-कैम्प में पड़ा सड़ता रहे। प्रमिला जिंदगी एक व्यापक क्षेत्र है, कन्सेंट्रेशन-कैम्प नहीं।"

"पर सो तो मैं भी नहीं कहती।" उसने बुझी-बुझी सी आवाज़ में कहा।

मैं जरा पहले से तीव्र स्वर में बोला, "कहो, न कहो, उससे क्या? मानकर तो यही चल रही हो?"

"कैसे?"

"हुँ, हाउ फनी!" फिर मैंने प्रमिला के ही शब्दो को जरा व्यंग के अंदाज़ में दोहराते हुए कहना शुरू किया, "नक्शा कभी बनाया था, मिट गया, अब कुछ नहीं है...यह सब क्या है? एक लकवाया हुआ दर्शन, जो जिंदगी को कन्सेंट्रेट कर के एक दड़बे में दुबका देता है।" इतना कह कर मैं कुछ क्षणों के लिए जाने किन वादियों से बोलने लगा, "दिस इज़ नो लाइफ़...दिस इज़ नो विज़न प्रमिला...नथिंग मोर दैन ए फेंटेसी।" उस समय मेरा स्वर शायद आक्रोश, ग्लानि, खेद, वितृष्णा और करुणा का कॉकटेल बन कर छलक उठा था। और मुझे यकीन है कि उस कॉकटेल ने प्रमिला के दिमाग के हलक में जाकर जरूर खलबली मचा दी होगी।

प्रमिला :

उस शाम सुरेन के जाने के बाद मैं अपने कमरे में चली गयी और घण्टों अपने बिस्तर पर लेटी-लेटी सोचती रही।

अब की बार जिस दिन से नीलगिरि से होकर आयी हूँ तब से हर समय कुछ न कुछ असामान्य-सा महसूस होने लगा है। इस मरतबे जो

नया दर्द वहां से मिला है शायद उसी का प्रभाव हो कि बरसों के दबे-दफनाए दर्द भी व्यतीत की कब्रों में से सिर उठाने लगे हैं।

हरदेव की याद अपने पूरे गीलेपन के साथ भिगो-भिगो जा रही है: ...आज से आठ बरस पहले हरदेव के साथ मेरी पहली भेंट दिल्ली के फाइन आर्ट्‌स हाल में हुई थी। उसी के बनाये चित्रों की प्रदर्शनी थी। मैं दर्शकों में थी। "संगमोत्सुका" शीर्षक एक पेंटिंग मुझे बहुत पसन्द आयी। मैंने हरदेव से दाम मालूम किया तो पता चला कि एक हज़ार रुपये। मैं निराश होकर हाल से बाहर निकल रही थी कि उसने बुलाकर पूछा, "आप किस मक़सद से यह पेंटिंग ख़रीदना चाहती हैं?"

मैंने सहज ही कह दिया, "अपने मैंटल पीस पर सजाने के लिए।"

इस पर हरदेव ने मैंटल पीस का दूसरा अर्थ समझाने की टोन बनाकर कहा, "यू मीन, फार योर मैंटल पीस!"

मेंटल पीस को मस्तिष्क के अर्थ में पकड़ कर मैं कट गयी। पर जाने उस समय हरदेव के जी में क्या आया कह गया, "यह मेरा विज़िटिंग कार्ड रख लीजिए, और आज से ठीक एक महीने बाद आकर यह पेंटिंग ले जाइयेगा। इसे बेचूँगा नहीं, भेंट कर दूंगा।"

मगर मुझ से तो एक रात भी मुश्किल से गुज़र पायी। अगले ही दिन हरदेव के घर जा पहुँची। वह मुझे देख कर चौंका। मगर उसने मुझे अपने ड्राइङ्ग रूम में ले जाकर बिठाया। कुछ औपचारिकताएं भी निबाहीं। फिर अपनी पत्नी से परिचय करवाया और अपने तीनों बच्चों से मिलवाया।

श्रीमती हरदेव तो थोड़ी देर के बाद हम से इजाजत लेकर उठ बैठीं और घर के काम-धाम में जा उलझीं। मैं और हरदेव ड्राइङ्ग रूम में ही बैठे रहे। कुछ देर तक तो हम दोनों खामोश रहे। फिर मुझे मौन असह्य हो आया तो बोली, "मैं वह पेंटिंग..."

हरदेव ने मुझे टोक दिया, "पर मैंने तो आप का एक महीना बाद

की डेट दी थी।"

मैं लज्जित-सी हो आयी, "सो तो ठीक है, पर मैं..." और फिर झेंप मिटाती-सी बोली, "अच्छा तो हरदेव जी, मैं आपकी इस शर्त का कारण जान सकती हूं ?"

वह कहने लगा, "कारण, कोई खास नहीं। जानना चाहता था कि एक लम्बे अन्तराल के बाद भी उस पेंटिंग को पाने के लिए आप की चाह बनी रहती है कि नहीं ?"

मैं चौंक उठी। उसने फिर कहा, "यही देखना चाहता था कि वह कहीं क्षणिक आवेश तो नहीं ? समय के वार को..."

इस पर मैं उसकी बात काट कर कह उठी, "हरदेव जी, मैं इस पेंटिंग को किसी भी कीमत पर हासिल करना चाहती हूँ। पर इस समय तो..." और इन शब्दों के साथ ही मैंने अपने पर्स में पड़े सारे नोट निकाल कह हरदेव की ओर बढ़ा दिये और कहा, "बाकी किस्तों में चुका दूंगी।"

हरदेव ने हाथ के संकेत से मुझे नोट वापिस रख लेने को कह दिया और कहने लगा, "अच्छा खैर, ठीक है। अगर आपको अपने आवेश के कूल-डाउन होने की उम्मीद नहीं है तो ले जाइये। पेंटिंग मैं आप को दिए देता हूं, मगर एक शर्त है। भेंट मैं कर सकता हूँ, आटो-ग्राफ नहीं कर सकूंगा। यूं ही ले जाना चाहें तो दे दूं ?"

मैं कुछ क्षण को भीतर कहीं चोट खा गई। मगर आवेश की गरिमा में उस चोट को मैंने नकार दिया। पल भर में ही निर्णय कर लिया कि हरदेव के आटोग्राफ के बिना ही वह पेंटिंग स्वीकार कर लूंगी। मुझ को अपने मेंटल पीस के लिए यह चित्र चाहिए न। अपने को समझाती हुई अपने आप से तर्क करने लगी : तो फिर इस बात में क्या फर्क पड़ता है कि उस पर हरदेव के हस्ताक्षर हों या न हों।'

यह निर्णय लेते ही मैं कह उठी, "कोई बात नहीं हरदेव जी, बिना

आटोग्राफ के ही दे दीजिए।"

मैंने उस समय हरदेव को कुछ ऐसी पिघलती निगाहों देखा था गोया अपना खौलता हुआ आपा उसमें उड़ेल देना चाह रही होऊँ।

हरदेव भी उस समय उस पिघलन की अवहेलना न कर सका। यंत्रचालित-सा अपने सोफे में से उठ खड़ा हुआ। और अपने मेंटल पीस पर सजे चित्र को उठा कर ड्राइंग रूम के साथ लगे अपने आर्ट-रूम में ले गया। ब्रश को साफ कर के सफेद रंग के घोल में डुबो दिया। और फिर पेंटिंग के निचले कोने पर किये हुए अपने हस्ताक्षर पर एक "पैच" लगा दिया।

सफेद रंग से अपने हस्ताक्षर पोंछ डालने के बाद हरदेव ने वह पेंटिंग मुझे सौंप दी।

मैंने अपने कमरे में जाकर मेंटल-पीस को साफ किया। उस पर का फालतू सामान हटा दिया। कागजी गुलदस्तों के गुलदान उठा दिए और सिर्फ उस "संगमोत्सुका" शीर्षक पेंटिंग को उस पर सजा दिया।

वैस्ट पटेल नगर के उस कमरे में मैं अकेली रहती थी। कालेज में लेक्चरर थी। दिन तो वहां बीत जाता। बाकी का समय किताबों में काट देती। सभा-सोसाइटियों में भाग लेने में मेरी रुचि नहीं थी। सखी-सहेली के नाम पर भी पूरी दिल्ली में एक ही दो थीं, सो उनसे भी कभी-कबार ही मिलना हो पाता था।

"संगमोत्सुका" लाने के कुछ ही दिन बाद मैंने एक दिन टेलीफोन कर हरदेव को अपने यहाँ शाम की चाय पर आमंत्रित किया। उसने निमंत्रण स्वीकार कर लिया।

उस शाम हम घण्टों बैठे बतियाते रहे। और उसी शाम मैंने हरदेव को खींचकर "आप" से "तुम" पर उतार दिया। हालांकि मुझे उस समय तो यह महसूस नहीं हुआ, आज सोचती हूं तो याद आता है कि

हरदेव तब शायद उस तरह खींच कर उतार लिए जाने के कारण भीतर ही कहीं कुछ टूट गया था।

और फिर वह लगभग इसी मनःस्थिति में था जब रात के ग्यारह बजे मेरे साथ नीचे उतर कर सड़क पर आया। हलकी-हलकी बूंदा-बांदी हो रही थी। मगर आसमान पर आसार कुछ अच्छे दिखाई नहीं पड़ रहे थे। इधर-उधर निगाह दौड़ाई। सड़क पर दूर-दूर तक कोई टैक्सी या स्कूटर दिखाई नहीं पड़ा। बस का तो टाइम ही अब नहीं रहा था। उसने कहा :

"अच्छा प्रमिला, चलो फिर ! तुम क्यों भीग रही हो ? अभी कोई-न-कोई टैक्सी मिल ही जाएगी।"

मैं बोली, "कोई बात नहीं, ऐसी कागज़ की नहीं बनी जो गल जाऊंगी।"

और फिर हम दोनों सड़क पर एक लैम्प-पोस्ट के नीचे काफी देर तक हलकी फुहार में भीगते रहे। सितम्बर का शुरू था। दिन तो अभी गरम थे। मगर रातें खुशगवार हो गई थीं। तिस पर बारिश के छींटों ने हवा में खुनक पैदा कर दी थी। मैंने हैण्डलूम की बारीक-सी साड़ी पहन रखी थी। बदन में एक हलकी-सी कंपकंपी महसूस हुई तो साड़ी के गीले पल्लू को और भी कस कर लपेट लिया। हरदेव की निगाह उस कसाव में से उभर आयी गदराहट पर फिसल कर रह गयी।

लैम्प-पोस्ट के नीचे सीधी लाइनों में गिर रही पीली-पीली बौछारें अब कुछ अधिक तेज़ रफ्तार हो उठीं। हरदेव ने पैंट की जेब से सिगरेट और माचिस निकाली। सिगरेट को ओठों में दबाकर माचिस जलाने लगा। मगर वह गीली हो चुकी थी। इस बीच ओठों पर लगी सिगरेट भी गल चुकी थी।

मैंने अपनी कलाई पर बंधी घड़ी की ओर देखकर कहा, "साढ़े ग्यारह बज गए। बारिश भी तेज़ हो चुकी है। घटा काफी गहरी है।

जल्दी थमने की भी उम्मीद नहीं। हो सके तो टाल जाओ। सुबह चले जाना।"

हरदेव ने जवाब में फिर सड़क पर इधर-उधर निगाह दौड़ाई, कोई टैक्सी दिखाई न पड़ी तो कंधे बिचकाता हुआ कहने लगा, "अच्छा भई, चलो फिर, और क्या !"

और फिर हम दोनों उसी कमरे में लौट आये। मैंने अपनी अलमारी में से एक सूती साड़ी निकाल कर हरदेव को दे दी और एक अपने लिए लेकर पलंग के परे वाले कोने में चली गई।

हरदेव ने झट से अपने भीगी पतलून और कमीज उतार कर उस धोती को दोहरी करके तहमद के रूप में बांध लिया और फिर कुर्सी में बैठ कर सिगरेट ओठों में दबा ली। फिर इधर-उधर देख कर पूछने लगा "प्रमिला, जरा माचिस..."

"उस कोने में स्टोव पर रखी है", मैं दूसरे कोने में खड़ी-खड़ी ही बोली। हरदेव ने उठ कर माचिस ली। सिगरेट सुलगाई। और सामने मेज़ पर टाँगें फैला दीं।

मैं इस बीच गीले कपड़े उतार कर सिर्फ वायल की सफेद साड़ी पूरे बदन पर लपेट चुकी थी। पूरे कपड़े पहनने के लिए किसी दूसरे कमरे में जाना पड़ता। सो उसका प्रश्न ही नहीं था। दस फुट बाई बीस फुट का एक ही कमरा मेरे पास था। इसी का एक कोना रसोई, दूसरा बैडरूम-कम-स्टडी था।

धोती लपेट कर जब मैं हरदेव के सामने बैठ गई तब हरदेव ने उसी तरह कुर्सी में धंसे-धंसे ही मेरी ओर एक भरपूर निगाह डाली : गीले कपड़े बदलते समय बदन पर तानी हुई मेरी वायल की धोती बीच-बीच में कुछ भीग गई थी।

हरदेव को खामोश देख कर मैंने पूछा, "भूख लगी हो तो कुछ बना दूं ?"

'तुम्हें लगी हो तो देख लो, मुझे तो कोई खास है नहीं।'

"झट से स्टोव पर चाय बना लेती हूँ। कुछ टोस्ट रखे ही हैं। जरा आधार रहेगा। क्या ख्याल है ?"

"ठीक है। चलेगा।" हरदेव ने बम्बइया लहजे में सहमति दे दी।

मैं कुर्सी से उठ कर स्टोव वाले कोने की ओर चली गयी।

स्टोव जलाने के लिए जब घुटनों के बल नीचे बैठ गई तब वायल की सफेद साड़ी मेरे बदन के साथ कस-सट जाने से हल्की प्याज़ी झलक फेंकने लगी थी।

थोड़ी देर के बाद मैं बैठी-बैठी ही हरदेव की ओर घूम गई। जलते हुए स्टोव को मैंने अपने सामने सरका लिया और लौ तेज़ करने के लिए उसमें हवा भरने लगी।

हरदेव उठकर बिस्तर पर जा लेटा था।

जब स्टोव में हवा भर चुकी तो शर्र-र-र की आवाज़ कमरे में भरनी शुरू हो गई। एलयुमिनियम की केतली में पानी भर कर उबलने के लिए मैंने स्टोव पर रख दिया और कुर्सी खींच कर हरदेव के सामने आ बैठी।

हरदेव ने मेरी ओर करवट मोड़ ली। बाँह लम्बी कर के नीचे फर्श पर सिगरेट को रगड़ कर बुझाता हुआ कहने लगा, "प्रमिला, एक बात सोचता हूँ।"

"क्या ?" मैंने सहज भाव से पूछा।

वह जाने कहाँ से बोल उठा, "समझ में नहीं आता कि यह क्या होने जा रहा है ?"

"क्यों ? ऐसी क्या बात है हरदेव ?" यह कहती हुई मैं हरदेव पर लगभग झुक-सी आई।

स्टोव का शर्र-शर्र का शोर उस बन्द कमरे में पूरी तरह भर आया था। उस थिरकते शोर में मेरी और हरदेव की सांसें काँपती रहीं और कैरोसीन की नीली-पीली-लपलपाती लपटों का सेंक कमरे में भरता गया।

केतली के पानी में से शूं-शूं की तेज़ आवाज आनी शुरू हो गई थी। पानी पूरी तरह खौल रहा था। ऊपर ढका हुआ ढक्कन ढीला होकर केतली के मुंह पर पड़ा-पड़ा ही नाचने लगा था।

और फिर अचानक स्टोव पर पड़ी केतली का ढक्कन उछल कर नीचे जा गिरा। खौला हुआ पानी उबल कर बाहर निकल आया। स्टोव की लपलपाती लपटें एक दम बुझ गईं। शूं-ऊं की एक आवाज के साथ कमरे का सारा शोर एक दम शांत हो गया।

मैं शिथिल-सी उठ पड़ी। तूफान थम चुकने के बाद का उजड़ापन वातावरण में भर आया था। लगा जैसे बाढ़ ने पहाड़ को ढा दिया है और हम दोनों उसके नीचे दब गए हैं।

उसके बाद उसी तरह की कई रातें वैस्ट पटेल नगर के उस कमरे में बीतीं। मगर हर बार तूफान बीत जाने के बाद का उजड़ापन देख कर हरदेव परेशान हो उठता।

एक बार मैं पूछ ही बैठी, "क्या बात है हरदेव? तुम्हें यहां आकर खुशी नहीं होती न?"

"यह बात नहीं प्रमिला।"

"तो फिर?"

"बात यह है कि..." और फिर अचानक हरदेव की निगाह मेंटल पीस पर सजी अपनी पेंटिंग पर जा पड़ीं। नीचे की ओर दाहिने कोने सफेद रंग से लगाया हुआ पेच उसे शायद घूर गया था। उसने झट से अपना टूटा हुआ वाक्य जोड़ दिया, "मुझे इस बात का मलाल हमेशा सालता रहेगा प्रमिला, कि मैं तुम्हें भेंट की गयी पेंटिंग को आटोग्राफ नहीं कर सका।"

"बस? इतनी-सी बात पर परेशान हो?" मैं खिलखिला कर हंस पड़ी और बात को हलका गयी।

मगर हरदेव को और भी भारी हो गया जान कर गम्भीर स्वर में

ही। ऊपरी पलस्तर से कब तक टिकाव रह सकता है ?"

"मगर पलस्तर को महज ऊपरी लीपा-पोती समझ कर उसके अस्तित्व और महत्ता को सर्वथा नकारा भी तो नहीं जा सकता।"

"खैर, तर्क में तो मैं तुमसे जीत नहीं सकती हरदेव ! और फिर प्यार कोई तर्क का क्षेत्र भी नहीं। मुझे तुम्हारी भेंट की जरूरत थी, ले ली। उस पर हस्ताक्षर की लीपा-पोती एक औपचारिकता है, सो उसकी मुझे जरूरत नहीं। तुमने अपने ही ब्रश से उस औपचारिकता को पोंछ डाला है, इससे अच्छी और स्वस्थ चीज और क्या हो सकती थी ?"

इस पर हरदेव कहने लगा, "जरूरत की बात तुमने उठाई है। मगर मैं पूछता हूँ कि वह जरूरत तुम्हें कब तक नहीं पड़ेगी ?" इतना कह कर वह मेरी आँखों में बहुत गहरे तक झाँक गया। मैं सिहर उठी। मगर फिर तुरन्त ही अपने को समेटती हुई कहने लगी, "कब तक क्या, जब तक मैं हूँ। मैं करके पछताने वालों में नहीं हूँ हरदेव, और जो करती हूँ, अपने बल-बूते पर करती हूँ। शायद तुम नहीं जानते कि स्वावलंबन की ट्रेनिंग मुझे बचपन से ही बराबर मिल रही है। और फिर तुम किस बात के लिए परेशान हो ? मैंने तुम्हें स्वयं चुना है। बीच में कोई मजबूरी नहीं। तुम्हें अपने पास बुलाती हूँ। तुम्हारे यहाँ, तुम्हारी घर-गिरस्ती किसी में बाधक नहीं बनती। फिर तुम्हें किस बात का डर है ?"

हरदेव को मेरी इस बात पर एक चुभता-सा एहसास हो आया। बोला, "डर मुझे तुमसे लगता है प्रमिला, तुम्हारे कौमार्य से लगता है, अपने भीतर के चोर से लगता है, मैं क्या करूं प्रमिला, इतना समझाता हूँ अपने को, पर..." बाकी के वाक्य की पूर्ति उसने शब्दों की बजाय दोनों हाथों की उंगलियों को घुमा कर की।

इसके बाद दोनों काफी देर तक खामोश बैठे रहे। और फिर जब हरदेव जाने लगा तब मैंने बड़ी कातर दृष्टि से पूछा, "फिर कब आओगे हरदेव ?"

हरदेव की पीड़ा उस की आवाज में घुल आयी, "प्रमिला, तुम समझती क्यों नहीं ? हमें...हमें नहीं मिलना चाहिए। यह ठीक नहीं है कि...पर प्रमिला, मैं स्वयं तुम्हारे सामने आकर अवश हो जाता हूँ। देखूं, कब तक अपने को रोक सकता हूँ। पर लगता है हमारे सम्पर्क कुछ बोझिल होते जा रहे हैं। झिल नहीं पाएँगे।"

मैंने मरे मन से हरदेव को विदा दी। बोली कुछ नहीं। जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गया, तकती रही। चला भी गया तो काफी देर तक ठगी-ठगी बैठी रही।

मैंने प्यार नाम की चीज़ का ज़िक्र पहले-पहल किताबों में पढ़ा था, फिर अपनी हम-उम्र सहेलियों के मुंह से सुना, और फिर उठती वय की उझकती-तलाशती आँखों से अपने भीतर की उन सूनी गुम्बदों में झाँका जहाँ मेरी अपनी ही भूखी आवाज लौट-लौट आ रही थी।

कचरी उम्र में प्यार का वह किताबी रूप मेरी गर्म नसों में रस-मसाने लगा और मेरे मस्तिष्क की रगें सूखे पत्तों की तरह चड़चड़ा उठीं।

'औरत ज़िदगी में सिर्फ एक ही आदमी को प्यार कर सकती है' 'प्यार किया नहीं जाता, प्यार हो जाता है' — 'प्यार अन्धा होता है, अच्छाई-बुराई ऊँच-नीच कुछ नहीं देखता' — 'प्यार का जादू जब एक बार जाग उठता है तब इन्सान पूरी तरह उसकी मोहिनी शक्ति के वश में हो जाता है' — 'प्यार के लिए जिंदगी तक की बाज़ी लगा देने में झिझक नहीं होती' — वगैरा-वगैरा बेशुमार तेज़धार किताबी तर्क मेरे दिमाग के नाज़ुक हाथों ने पकड़ लिये थे।

प्यार की रूहानी ताकत की कल्पना में मैं अपने आपको ऊँची महसूस करने लगी थी कि मुझे अपने सम्पर्क में आने वाला हर पुरुष गन्दी नालियों में बिजबिजाता हुआ कीड़ा लगने लगा था। ब्याह-शादियों के ज़िक्र मुझे बदबूदार लगते। प्यार की खुश्बू पाने की इंजार में मैं अपने आपको अनाम मर्द की अनदेखी आग़ोश के लिए तैयार

करने लगी थी। अपने भावी प्रमी का एक सपनीला-सा चित्र, मैंने अपने भीतर बना लिया था। और अपनी आने वाली जिन्दगी का एक बहुत दिलकश नक्शा मैं बना चुकी थी। उसी नक्शे की लकीरों से मिला-मिलाकर मैं अपनी जिन्दगी को तरतीब दे रही थी।

इसलिए मुझे किसी कीमत पर भी यह गवारा नहीं था कि मेरे प्यार का सपना टूटे। क्योंकि वह टूटता तो मैं सारी की सारी टूट-बिखरती। अपने स्वप्न-शिशु की हत्या अपनी ही आँखों के सामने भला क्यों कर सह सकती थी? इसलिए वह अप्रिय घड़ी आने से पूर्व ही मैं अपने सपने समेत निज को समेट-बटोर वहां से अलगा लेना चाह उठी।

मेरा प्यार मेरे प्रेमी पर बोझ बन जाए इस सीमा तक अपमानित कैसे होने देती अपने आपे को?

मगर मेरे तन की संगमोत्सुका अपने प्रिय की आराधना के फलस्वरूप जो प्रसाद पा चुकी थी, उसे फेंक भी कैसे देती?

इसलिए अपने गर्भ की अंजुरी में आराध्य से पाया प्रसाद लिए-लिए ही मैं वहां से चली गयी। हरदेव को अब तक पता नहीं कि मैंने उससे क्या पाया और न उसके बाद मैंने अपने अस्तित्व की उसे कभी सूचना ही दी।

घर-बार के नाम पर तो मेरा कुछ था ही नहीं। मां-बाप का साया बचपन से ही उठ चुका था। ले-दे कर एक बड़ा भाई था जो अपने परिवार को लेकर मेरठ में रहता था। मैं जो कुछ भी हो-बन पायी थी, अपने बल-बूते पर ही। स्कूल में नौकरी और घर में पढ़ाई करते-करते ही मैंने उच्चतम शिक्षा पायी थी और अब दिल्ली के डिग्री कालेज में प्रध्यापिका थी। अपनी राह स्वयं बनाने की प्रक्रिया में जो संघर्ष मुझे करने पड़े थे उसके आधार पर इतना तो दावे के साथ कह ही सकती हूँ कि संघर्षशील जीवन अपनी तमाम कड़वाहटों के बावजूद

खैर, तो घर नाम की किसी चीज़ के सहारे की मुझे जरूरत नहीं पड़ी और मैंने दूर दक्षिण के एक शहर में जाकर नौकरी कर ली।

वहीं गुड्डू पैदा हुआ और वहीं तीन साल तक पला। वहाँ के समाज में मैंने अपने को विधवा घोषित किया हुआ था। और अपने गुड्डू को पास्थ्यूमस चाइल्ड।

पर गुड्डू जब तुतलाने लगा तब उस पर जाने क्यों मैंने यह प्रभाव नहीं पड़ने देना चाहा कि वह पितृहीन है। यूं ही कह-कह कर उसे बहलाती रही कि तुम्हारे पापा बहुत दूर रहते हैं।

और फिर जब वह कुछ होश सम्हालने लगा तो मैंने उसे नीलगिरि हिल्स के पब्लिक स्कूल में दाखिल करवा दिया। जन्म से ही आया के हाथों में पलने के कारण उसने मेरा बिछोह अधिक महसूस नहीं किया और थोड़े ही दिनों में वह वहाँ के रमणीय और आकर्षक वातावरण में हिलग गया। फिर भी मैं दूसरे-चौथे महीने जाकर उसे मिल आती।

उसी बीच मैं पंजाब पब्लिक सर्विस कमीशन द्वारा चुन ली गयी और शिमला के गवर्नमेंट कालेज में दर्शन-शास्त्र की प्रध्यापिका होकर चली आयी।

शिमला आकर फ्रेण्ड, गाइड एण्ड फिलासफर के रूप में सुरेन सारंग मिल गया। सुरेन के नाम से तो मैं बरसों पहले ही परिचित थी। जहां-तहां उसकी लिखी कहानियां नजर से गुजरती ही रहती थीं। पर साक्षात परिचय ने बताया कि वह व्यक्ति अपने में कहीं बहुत महान है।

पाँच बरस के घनिष्ट परिचय के बावजूद मैं सुरेन के दुनियावी परिचय के रूप में सिर्फ इतना जानती हूँ कि बरसों पहले उसकी पत्नी की मृत्यु हो गई थी और वह पिछले दस साल से शिमला में ही मनोविज्ञान का प्राध्यापक है। इस रूप में इससे अधिक जानने की न कभी

परिपक्व सम्पर्कों के लिए इन सब सतही बातों की जरूरत भी शायद नहीं होती। इन सब से परे और अलग एक और भी चीज़ होती है और वही असल चीज़ है।

खैर तो शिमला में रहते हुए भी मैं साल में दो-तीन बार नीलगिरि हो आती हूँ। गुड्डू अब पढ़ने-लिखने लगा है। कुछ-कुछ समझ-बूझ भी आ चुकी है। अनुभूति भी कुछ विकसित हो चली है। अबकी बार गयी तो बोला, "मम्मी, यहाँ सब के डैडी मिलने आते हैं, हमारे डैडी क्यों नहीं आते?"

मुझे लगा गुड्डू ने कोई उलहना दे दिया हो। मैं हतप्रभ हो आयी। पर तुरन्त ही संयमित होकर कहने लगी, "बेटे, तुम्हारे डैडी बहुत दूर गये हुए हैं। आ नहीं सकते।"

"तो फिर कब आएँगे मम्मी? बहुत दिन में?' मुन्ने ने जिज्ञासा प्रकट की तो मैंने उसे टालते हुए कह दिया, "हाँ बेटा, आएंगे, आएगे।"

"अच्छा मम्मी, हमारे डैडी बहुत अच्छे हैं न? डेविड कहता था, उसके डैडी उसे बहुत प्यार करते हैं, अच्छे अच्छे खिलौने लाते हैं, ढेर-सारी टाफियां और..."

गुड्डू की बातों से परेशान होकर मैं कुढ़ कर कह उठी, "अच्छा मुन्ने, हम भी तुम्हें सब-कुछ लिये देते हैं। चलो, हमारे साथ बाज़ार चलो।"

और तब मैं अपने गुड्डू को बाज़ार ले गयी। कई कुछ दिलवा दिया—ढेरों खिलौने, टाफी, चाकलेट और जाने क्या-क्या!

मगर छुट्टियाँ खत्म होने पर जब से मैं शिमला लौटी हूँ, तब से एक विचार मुझे रह-रह कर कोंचने लगा है: "जब मुन्ने की उम्र खिलौनों और टाफी-चाकलेटों से बहलने की नहीं रहेगी, तब?...तब क्या होगा?"

इस विचार से एक अजनबी-सा दर्द मेरे भीतर जाग उठा है। मगर मैं उस नये दर्द को लोरी दे-दे कर सुलाने का प्रयास करने लगी हूँ।

सुरेन और प्रमिला :

और आखिर एक दिन प्रमिला सुरेन को अपने कमरे में ले गयी। अन्दर जाकर उसने ड्राइंगरूम में खुलने वाला दरवाजा उढ़का दिया और कमरे भर की खिड़कियाँ खोल कर पर्दे हटा दिये।

बारिश थम चुकी थी। बाहर खुला-खिला आकाश था। नौ बज चुके थे। रात उजली थी। बारिश की वजह से हवा में खुनक बढ़ गयी थी। चांदनी रात में आसमान पालिश किये हुये इस्पात की-सी गहरी नीली झलक फेंक रहा था।

प्रमिला को शायद अपने शरीर में एक हल्की-सी ठिठुरन महसूस हुई। वह सुरेन के पास कुर्सी घसीट कर बैठती हुई साड़ी के पल्लू से दोनों अधखुली बाँहों को कस कर लपेटने लगी।

काफी देर तक दोनों खामोश रहे। सुरेन उठ कर पलंग पर अध-लेटा बैठ गया और सिगरेट के लम्बे-लम्बे कश खींच कर फेंकता रहा। प्रमिला बात का सूत पकड़ने की कोशिश में इधर-उधर निगाहें दौड़ाती रही।

मरकरी लाइट की ट्यूब पर कुछ-एक भुनगे नाच रहे थे। बायें कोने में पड़े शैल्फ में से कुछ मोटी-मोटी किताबें झाँक रही थीं। मेंटलपीस पर सजी फ्रेममढ़ी संगमोत्सुका की कलर-स्कीम मरकरी ट्यूब की रोशनी में और भी निखर आयी थी।

प्रमिला सोच रही थी कि कहाँ से बात उठाये, कि संगमोत्सुका के रंगों के रिफ्लेक्शन ने उसे मौन भंग करने की प्रेरणा दे दी। वह उठ

कर मेंटल पीस पर से संगमोत्सुका उठा लायी।

फिर घुले हुए ऑयल-कलर की-सी गाढ़ी दृष्टि से सुरेन को देखती हुई कहने लगी, "यह पेंटिंग देख रहे हो न ?" और इन शब्दों के साथ ही उसने वह पेंटिंग सुरेन के हाथों में थमा दी।

और फिर प्रमिला ने हरदेव के साथ हुई पहली भेंट से लेकर नीलगिरि में गुड्डू से हुई दर्दीली भेंट तक की पूरी कहानी कह सुनाई।

सब कुछ कह-फेंक कर जब निढाल हो गयी, तब सुरेन ने अपने हाथों में पकड़ी पेंटिंग तकिए के पास लिटा दी। फिर धीरे-धीरे उठ बैठा। पलंग की पाटी पर बैठ कर टांगें नीचे लटका दीं और आहिस्ता से हाथ बढ़ा कर प्रमिला की कलाई थाम ली।

प्रमिला ने एक पल को चौंककर अपनी कलाई के गिर्द लिपटे सुरेन के हाथ को देखा। फिर थकी-थकी निगाहों सुरेन को तकती हुई अपनी जगह बैठी रही।

सुरेन ने दयार्द्र दृष्टि से प्रमिला की ओर देखते हुए कहा, "तो तुमने अपनी ज़िंदगी के साथ ज़िद्दी बच्चे का-सा सलूक किया, प्रमिला !"

प्रमिला ने हार स्वीकारती-सी एक ऐसी दृष्टि सुरेन के समक्ष बिछा दी, जिसका अर्थ था, 'हाँ सुरेन, शायद यही सच है।'

सुरेन फिर कहने लगा, 'ज़िंदगी तो मधुमक्खियों की तरह है प्रमिला ! सधे हुए हाथों से चाहो तो छत्ते की एक-एक बूंद निचोड़ लो, पर उतावलेपन में आकर अगर अनाड़ी हाथों से इसे छेड़ दिया तो डंक ही लगेंगे।'

प्रमिला बड़ी ही कातर दृष्टि से सुरेन की ओर देखती बैठी रही। सुरेन उसके माथे पर बिखर आयीं लटों को अपने हाथों से संवारते हुए कहने लगा, "अति-भावुकता की मछलियां भीतर की अंधी-गीली गह-

रास नहीं आती। तुम ने जज़्बात की री में बह कर जो 'अहस्ताक्षरित भेंट' कबूल ली थी, उस पर हस्ताक्षर जरूरी हैं।

इतना कहते ही सुरेन ने तकिए के पास पड़ी संगमोत्सुका को उठा लिया। कुछ लमहों तक उसे हाथ में लिये-लिये देखते रहने के बाद उस पर के सफेद पेच पर अपनी उंगलियाँ धर दीं। फिर दृष्टि उठाकर प्रमिला की ओर कुछ ऐसी खींचती हुई निगाहों से देखा कि प्रमिला एक झटके के साथ सुरेन के कंधे पर लुढ़क आयी।

और प्रमिला को लगा कि उस पेंच की सफेदी के स्थान पर सुरेन की उंगलियों ने धीरे-धीरे हस्ताक्षर उभार दिये हैं। सु...रे...न... सा...रं...ग। ●

जिंदगी का सर्करामा

केबिन का पर्दा ज़रा उघड़ा हुआ था। मैंने झटक कर दोनों पल्ले मिला दिये। पीतले के रिंग लोहे की रॉड पर सरक कर थिरकते घुंघरुओं की-सी झंकार छोड़ गए। यूनाइटेड कॉफी हाउस की छपी मीनों कोमल की उंगलियों में फंसी हुई थी, और लिपस्टिकी ओठों की दरीचों में से मुस्कान रेंग रही थी। मेरे ओठों में से निकल कर प्लाइवुड के तंग केबिन में उठ-उभर रही नीली-महीन-बलखाती धूएं की लकीरें, जो कुछ ही देर बाद झटका खा कर टूट-छितरा जातीं। भीनी-भीनी निकोटीनी गंध और उसके साथ मिल-उड़ कर आती हुई कोमल के जिस्म की मादक-महक। हम दोनों के बीच पड़ी हुई एस्प्रेसो कॉफी की प्यालियां, ऐश-ट्रे, पानी भरे छोटे-छोटे दो गिलास और एक कोने सजा गुलदान, जिसमें कागजी-फूलों का गुलदस्ता खुसा हुआ था।

घण्टे भर बाद हम लोग सीढ़ियाँ उतर कर मेन-हाल में से गुज़र रहे थे। रेडियोग्राम पर कोई नाच की तीखी धुन रह-रह कर उछल-उछल पड़ रही थी। लगभग हर टेबल भरी हुई... रंग-बिरंग के लोग, भाँति-भाँति की बोलियाँ... टेबलों पर सजी तरह-तरह की डिशें...

फुरती से इधर-उधर फुदकते वेटर...अभ्यस्त हाथों से काँच के गिलास और चायना के रखने-उठाने की तालयुक्त आवाजें—वातावरण में रसमसाई हुई काफी की कसैली-सी बसाध...हमारी ओर घूमती-सी कुछ-एक दबी-दबी नजरें और उन निगाहों को झेलती-फेंकती-सी मेरे आगे-आगे चलती हुई कोमल।

गेट पुश करके हम लोग काफी हाउस से बाहर निकले। बाहर खड़े वर्दीधारी छोकरे ने एक ज़ोरदार सैल्यूट दाग दी। कोमल ने मुस्करा कर गर्दन को जरा झुकाया और फिर आगे को झूल आए बॉब-कट हेयर को गर्दन के ही एक झटके से संवार कर बायें को मुड़ गयी। मैं इस बीच उसके साथ-साथ चलने लगा था।

हम लोग एक ब्लाक में से निकल कर सड़क पार करने जा रहे थे। ट्रैफिक काफी था। मैं थोड़ा ठिठक गया। कोमल मेरा हाथ पकड़ कर सड़क के बीच लपक पड़ी। इधर-उधर देखते-बचते हम लोग रेडियल रोड क्रास करके दूसरे ब्लाक में जा पहुँचे। उस बीच मैंने बहुत प्रयत्न किया कि ऐसा न लगने पाऊं कि एक नारी मुझे सहारा दे कर सड़क पार करवा रही है।

...और फिर जनपथ में कपड़ों वाली दुकान पर कोमल ने मुझ से किसी कपड़े के बारे में राय पूछी तो मैंने उसमें नुक्स निकाल दिया। वह फिर एक और थान पर झुक गयी। मेरी पसन्द जाननी चाही। मैंने फिर रद्द कर दिया। बच्चों के सूट के कपड़े का एक डिजाइन उसने बहुत पसन्द किया। मैंने मरे मन से ही सहमति दी। फिर उसने दो बच्चों के लिए अलग-अलग सूट के पीस और कुछ और कपड़े लिए। बिल चुकाया और मुझे साथ लेकर चल पड़ी।

जनपथ के चौराहे पर रेलिंग के पास खड़े दर्जनों मनचले हंसी-ठट्ठा कर रहे थे। इस रंगीन बाजार में आने-जाने वाली तितलियों का पूरा व्यू लेने के लिए यह स्थान बड़े मौके का है। और अक्सर होता यह है कि इस जगह से गुज़रते समय वह रंगीनियां भी कुछ मंद-मस्त चाल का प्रदर्शन किये बिना शायद ही रह पाती हों। पूरी कनाट प्लेस में दो ही स्थान सही मानों में कलरफुल हैं। एक तो टी-हाउस से रीगल सिनेमा तक का टुकडा और दूसरा जनपथ के काटेजइंडस्ट्रीज़ एम्पोरियम से लेकर इस चौराहे तक। और शाम के पांच बजे से लेकर सात-साढ़े सात तक तो यह दोनों ब्यूटी-स्पाट अपने क्लाइमेक्स पर पहुंचते होते हैं। इस समय यहां का दृश्य देखकर लगता है कि किसी चित्रकार के माडर्न कल्चर की कोई एब्स्ट्रैक्ट पेंटिंग बना डाली हो। मैंने कोमल से यह बात कही भी। वह हँस पड़ी। अजीब हंसी थी उस की।

...अब हम लोग जनपथ के चौराहे से रीगल की ओर जाने वाली सड़क के किनारे-किनारे चल रहे थे। फुटपाथ पर एक जगह एक लड़का पत्र-पत्रिकाएं बिछाए बैठा था। कुछ सैकंडहैंड रूसी-अमरीकी किताबों का चार आना-ब्रांड ढेर भी लगा हुआ था। थोड़ा हट कर लकड़ी के बंसरी-नुमा सांचों में चूना भर कर फुटपाथ पर ही रंगोली के डिज़ाइन बना-बना कर सांचे बेचता हुआ एक और आदमी। इधर-उधर भागते ईवनिंग-न्यूज़ की आवाजें लगाते छोटे-बड़े छोकरे...कतारों में बैठे शू-शाइन ब्वायज़...शाम की सैर को निकले कुछ जोड़े...भिखमंगी गैर-कानूनी होते हुए भी भीख मांगते कुछ फटे हाल...दिन भर की थकान से उबर पाने के लिए रौनक में निकलीं कुछ स्कूल

मास्टरनियाँ और नर्सें...जिन्दगी का बोझ हलकाने चले आये दफ्तरों के क्लर्क।

कोमल ने मुझे एक विचित्र-सी निगाह से देखा और फिर हंस पड़ी।

"क्या यहां का सब कुछ तुम्हें एब्स्ट्रैक्ट लगता है, अरविंद?" कोमल मुझ से पूछ रही थी, "जीवन के ये विभिन्न शेड..."

मैंने कह दिया, "शेड मुख्तलिफ होने की बात नहीं, कोमल। नज़रिए की बात है।"

"तो नज़रिया क्या जिंदगी के शेड से अलग कोई चीज़ होती है?" कह कर वह फिर हंस दी और अपनी बात जारी रखी, "बाकी हां, तुम्हारी बात के शब्दों को ही लूं, तो कह यह भी सकती हूँ कि बात बाकई नज़रिए की है, अरविंद। एब्स्ट्रैक्ट भी तो यह सब कुछ नहीं, नज़र की एब्स्ट्रैक्ट हो तो बात दूसरी है।" और इतना कहती-कहती वह खिलखिला पड़ी। और फिर मुझे अपना स्वर जरा तेज़ हो आया जान पड़ा, "तो तुम्हारा मतलब है कि यह सब जो कुछ है, ठीक है, हमारी निगाह ही गलत है?"

उत्तर में वह फिर हँसी। बोली, "हालांकि बिलकुल यही नहीं, पर यह भी तो सत्य है ही।"

"सो कैसे?"

"यूं, कि गलत-ठीक, अच्छा-बुरा, प्यार-नफरत, सुख-दुख, यानी दिस वे आर देट वे? अं? अगल-बगल-बीच में कहीं कुछ नहीं? यही तो वीज़न है न तुम्हारा?"

अब की बार जब वह हँसी तो मुझे बालो याद आ गया। बालो, मेरा दोस्त था और दिल्ली पालीटैक्निक में फाइन-आर्ट का अध्यापक और कोमल उनके यहां की माडल गर्ल। उसने जब कोमल का परिचय करवाया तो कहा था, "अरविंद, इससे मिलो। मेरी मित्र कोमल, बड़ी ज़िंदादिल है।" और फिर मेरा परिचय देते हुए बोला था—

"कोमल, यह अरविंद। मेरा लंगोटिया। पर झेंपू और निरा थामस हार्डी।"

उस समय कोमल के एक हाथ में कोका-कोला की बोतल थी। दूसरा हाथ उसने बढ़ा दिया था। मैंने भी। फिर मेरे हाथ को मरदाना अन्दाज़ में दबा कर कहने लगी, "मेरे दोस्त होते तो हार्डी नहीं रहने देती, मण्टो बना देती।"

इस पर बालो ने मज़ाक में कहा था, "पर अब तो हो गया है। कर लो शुद्ध।"

फिर दो महीने बाद कनाटप्लेस के बरामदों में टहलते हुए उस दिन अचानक कोमल से सामना हो गया तो उसने मुझे झट पहचान लिया और फिर बाँह पकड़ कर कॉफी हाउस में ले गयी थी। बात-बात पर मुझे साधिकार झिड़क देती। एक बार तो यहाँ तक कह दिया, "देखो, अरविंद! तुम्हें बिलकुल जिंदगी का शऊर नहीं।"

उस से पहले मैं इस बात का आदी नहीं था कि कोई हम-उम्र फार्मल परिचय की लड़की मुझे मेरे नाम के पहले शब्द से घड़ी-घड़ी पुकारे और एकदम इनफार्मल होकर "तुम-तुम" कह के सम्बोधित करे। अपनी आदत के खिलाफ मैं वैसी आलकसी स्थिति में पड़ कर कॉफी हाउस के उस कैबिन में बैठा अपने आप में सिमटा जा रहा था कि कोमल ने मेरी सिमटन को गोया कॉलर से पकड़ कर झिंझोड़ दिया, "अरे तुम तो एकदम उजबक हो। यह क्या हर वक्त मुहर्रमी सूरत बनाए रहते हो? उस दिन भी तुम्हारा यही हाल था।"

और उस समय मुझे कोमल एक लापरवाह अलमस्त-आवारा किस्म की सोसाइटी-गर्ल जान पड़ी। फिर मुझे उसके बारे में बालो से हुई बात याद हो आई। बालो ने कहा था, "कोमल हर समय खुली-खिली रहती है, अरविंद।" मैंने पूछा था, "यूं भी तो काफी खुल खेलती होगी न?" मेरे इस सवाल पर बालो कुछ चौंका था। उस समय उस की मुद्रा कुछ इस किस्म की हो आई थी गोया कि उस क्षण से पूर्व

उसने कभी इस पहलू पर सोचा ही न हो। बोला, "कह नहीं सकता, अरविंद। मगर हाँ...हो भी सकती है। होगी ही। और फिर यह तो, भई, नैचुरल अर्ज है। कोमल भी आखिर जवान है।"

"क्या उम्र होगी भला ?"

"यही, कोई पच्चीस के इधर-उधर।"

"शादी-वादी तो..."

"नहीं।"

"घर में कौन-कौन है ?"

"रिश्ते तो मालूम नहीं, पर हैं कई लोग। अक्सर गया हूं, पर ज़्यादा कुरेदने की कभी ज़रूरत ही महसूस नहीं हुई।"

फिर कोमल के साथ हुई कॉफी-हाउस वाली भेंट में मैंने उस से भी पूछा था, "शादी तो..."

इस पर कोमल ने मुझे संकोच की असुविधा में फंसा जानकर झट उबार लिया। बोली, "शादी ?" —और शादी शब्द का उच्चारण उसने कुछ इस ढंग से किया गोया करीब से कोई कूड़े की गाड़ी गुज़र गयी हो।

फिर तुरन्त ही मैंने बात टालने की गर्ज़ से बेमकसद ही पूछ डाला, "यहां अकेली ही रहती हैं या..."

वह बोली, "हां। अकेली। मगर सब के बीच।"

कोमल ने यह बात तीन अलग-अलग वाक्यों में कही थी, शब्द टिका-टिका कर। पर मैं पकड़ नहीं पाया था।

...उस दिन कोमल के घर गया। उसने अपनी मां और भाभी से मुझे मिलवाया। फिर अपने कमरे में ले गयी। थोड़ी देर के बाद स्वयं

उठकर चाय लेने चली गयी।

बाहर बरामदे में कोमल के भतीजे शायद पड़ोस के कुछ बच्चों के साथ बैठे 'कोकला छपाकी' का खेल खेल रहे थे :

...कोकला छपाकी जुमेरात ग्रायी रे,

जो भी पीछे देखे उसकी शामत ग्राई रे।

फिर जब तक कोमल चाय लेकर नहीं ग्रा गयी, तब तक मेरी ग्रांखों के सम्मुख मेरे कड़वे व्यतीत की ग्रनेक कतरनें एक के बाद एक फहराती रहीं। ग्रौर मेरे भीतर हमेशा पलने वाला कुछ पले हुए चूहे की तरह ग्रपने तीखे दांतों से मुझे कुतरने लगा। मैंने जब से होश सम्हाला था, परेशानियो ग्रौर खस्ता हालियों का घूर ही ग्रपने गिर्द जमा देखा था। जाने कितनी पीढ़ियों का कूड़ा-करकट था उस घूर में। पिता जी मुझे किसी काबिल बनाने का सपना पालते-पालते ही गल-भुरे थे। सारी उम्र क्लर्की करते-करते परिवार ग्रौर कर्ज़ का बोझ ढोते रहे. ग्रौर ग्राखिर टूट-गिरे थे। पढ़-लिख तो मैं चुका था, पर काबिल इतना ही हो सका कि किसी तरह मां, बहिन ग्रौर एक छोटे भाई की रोटियो का जुगाड़ भिड़ा पाया। बहिन जवान हो चुकी थी। मैट्रिक से ग्रागे पढ़ा नहीं सका। शादी कर देने का बूता कहाँ था? टाइप सीख कर क्लर्क हो गयी वह भी। क्या कर सकता था? मन में ग्ररमान थे, पल रहे थे। सोचता था गल जावेंगे किसी दिन।

बरामदे में खेलते बच्चों में से शायद किसी से खेल के नियमों के विरुद्ध कोई फाउल कर दिया था। इसलिए वृत्ताकार बैठे बच्चों के गिर्द चक्कर लगाते हुए बच्चे ने एक की पीठ पर कपड़े का बटा हुग्रा गांठदार रस्सा दे मारा। ग्रौर फिर वही पंक्तियां गाने ग्रौर चक्कर लगाने की ग्रावाजें लटके-पर्दों की दरीचों में से चू-चू कर ग्राने लगीं।

ग्रौर तभी सटाक् की ग्रावाज़ के साथ एक गांठदार कोड़ा मुझे ग्रपनी पीठ पर ग्रा पड़ा मालूम हुग्रा। कोमल ने चाय का कप मेरी

ओर बढ़ाते हुए पूछा था कि मैं हर समय चुप-चुप और उदास क्यों रहता हूं। उसके इस प्रश्न के कोड़े से मेरी रग-रग थर्रा उठी थी। मगर झेंप मिटाता हुआ शायद यह कह गया था कि कुछ नहीं, आखिर रखा ही क्या है इस जिंदगी में !

इस पर कोमल ने शतपथ ब्राह्मण वाली स्थाणु की कथा सुना डाली थी कि ब्रह्मा ने स्थाणु में सृजन की सारी क्षमताएं भर दीं और कहा कि जाओ, जा कर मानव-सृष्टि करो। स्थाणु ने सोचा कि क्या होगा मानव-सृष्टि कर के ? बेकार कष्ट भोगेंगे मानव। इस से अच्छा है, रचना ही न करूं। यही सोचते-सोचते स्थाणु समाधिस्त हो गए। और फिर हजारों वर्ष बाद जब उनकी समाधि टूटी तो उन्होंने अपने चारों ओर मानव-सृष्टि हुई पाई। स्थाणु हैरान हुए कि सृजन की क्षमताएं तो ब्रह्मा ने मुझ में भरी थीं, पर यह मेरे बिना मानव-सृष्टि क्यों कर हो गयी ? इस बात पर क्रुद्ध होकर स्थाणु ने अपनी जननेंद्रिय काट फेंकी। कहते हैं कि उसी कटे अङ्ग की बाद में शिवलिंग के नाम से पूजा भी होने लगी।

कोमल ने इस कथा के माध्यम से यह सिद्ध करना चाहा था कि स्थाणु आज के इन्टलैक्चुअल्स का ही एक माडल था और निराशा का दर्शन ऐसे ही स्थाणुओं की देन है।

उस सयय मन नहीं था कि कोमल के साथ किसी अप्रिय बहस में उलझूं। जवान और खूबसूरत कोमल के नैकट्य के उन शहदीले-क्षणों पर किसी मायूस दर्शन का साया डालना गवारा न हुआ। मुस्करा कर बात टाल गया।

इतने में बाहर बरामदे में बच्चों की लड़ाई और रुलाई का शोर मच उठा। कोमल उठ कर चली गयी। मैंने घड़ी देखी : रात के नौ बजने वाले थे। छोटे से कमरे की सफेद दीवारों पर निगाह घुमाई। एक छोटी-सी पेंटिंग लटकी हुई थी। उठ कर दीवार के पास जा खड़ा हुआ। कोमल का ही चित्र था : माडल गर्ल कोमल का...

...नामालूम से परिधान में गात की एक-एक रेखा उजागर। चेहरे पर ग़ौर से देखा तो किसी की 'मोना लिज़ा' की-सी अवर्णनीय मुस्कान उछल-उछल पड़ रही थी। और पेंटिंग के निचले कोने पर चित्रकार के हस्ताक्षर थे। पहचान गया। बालो था।

तब तक बालो को मैंने एक मित्र के रूप में जाना था। मगर उस चित्र को देख कर उसका सृजन क्षमता का जो एहसास हुआ, उसने मुझे चौंका दिया। हालांकि उसके बनाये कई चित्र मैंने पहले भी देखे थे। मगर उनमें की रेखाओं और कलर-स्कीम में वह जान नहीं थी। लगा कि बालो के भीतर के क्रिएटिव-जीनियस को इस 'माडल' की मुस्कान ही बाहर खींच लायी है। एक दिन बातों-बातों में ही बालो ने बतलाया था कि कोमल जब पोज़ देने बैठी होती है तो क्या मजाल जो एक मिलीमीटर भी इधर-उधर हो जाये। बेस पर घंटों की सिटिंग तन तोड़कर रख देती है। मगर आफरीन है कोमल के, कि चेहरे पर शिकन तक नहीं आने देती। इसके से कर्व और उठान तो और माडल गर्ल्स के शरीरों में भी मिल जायेंगे, पर ऐंगल पर जो कमाल इसे हासिल है, सो कहीं नहीं देखा।

थोड़ी देर बाद पर्दा हटा और एक तीन-चार वर्ष के सुबकते हुए बच्चे को गोदी में उठाए पुचकारती-चूमती हुई कोमल भीतर आयी। मैं अभी तक उस पेंटिंग के पास ही लटका खड़ा था। कोमल मेरे पास खड़ी हो गयी। गोदी चढ़ा बच्चा अब तक बिसूर रहा था। नाक बह रही थी। लार टपक रही थी।

कोमल ने अपनी साड़ी के पल्लू से ही बच्चे का मुंह पोंछते हुए बतलाया कि वह उसका भतीजा है। मैंने शिष्टाचारवश बच्चे को दुलार दिया। फिर जाने क्या सोच कर प्रश्न कर डाला कि तुम्हारे भाई साहब नहीं मिले, कहां हैं ? कोमल ने सहज भाव से बतला दिया कि उन्हें मरे तीन साल हो गये हैं। और फिर तुरन्त ही बच्चे को चूम कर अपनी नाक उसकी गाल पर रगड़ती हुई तुतलाती

आवाज़ में किलोलने लगी थी, "मगल ये प्याले-प्याले खिलौने तो हैं हमाले पास।"

बच्चे को गुदगुदी-सी लगी तो वह सुबकियों के बीच ही एकदम किलकारी मार उठा। कोमल ने भी एक ज़ोरदार ठहाका लगाया और फिर बच्चे को गोदी से उतार दिया। वह तुरन्त बाहर भाग गया।

और मेरी जिंदगी का शायद यह पहला लमहा था जब मैंने अपने भीतर के बोझ को हलका हुआ महसूस किया था और जिंदगी पहली बार मुझे जीने लायक लगी थी। ●

ओलिम्पस

"यो तो बहोत गरम है।"

"हाँ इबी-इबी तो तोड़ी ए। जरि पानी मिला ले।"

"खट्टी तो नईं ?"

"उं-हुं। खट्टी तो होवे ससुरी नौसादर वाली। मोनू-हर काढ़े हैं वैसी। हम तो, तम जानो, नफा थोड़ा ले लेंगे, पर चीज देवेंगे एक दम पेटैंट।"

और महेसू पैसे लेकर गिनने लगा है। गाहक खड़ा-खड़ा ही दारू गटक गया है।

"जा के आँच तो देख आ", महेसू नीत्ती से कह रहा है, "कनस्तर की मिट्टी बी जरि दबात्ती आइयो! और सुन, वो नलकी की टूटी दारू कित्ती बची ?"

नीत्ती ने जवाब दिया है, "अद्धा-एक होवेगी।"

"बस तो, उसे मत वेचियो। दरोगा का आदमी आवेगा, उसे दे देवेंगे।" फिर अपने आप ही बड़बड़ाने के-से स्वर में कहने लगा है, "भभके की तोड़ी हुई से तो ससुर को नसा ई नईं होत्ता।"

जगदीश पेशाब करने के लिए आंगन के परले कोने बने गुसलखाने की तरफ जा रहा है। दायीं ओर निगाह उठती है, महेसू एक और गाहक से पैसे थाम रहा है। नीती अंग्रेज़ी शराब की खाली पाव-बोतल में दारू नाप कर कांच के गिलास में उंड़ेल रही है।

गाहक ने टोक कर पूछा है, "पूरा दिया न ?"

"बेइमान्ने का काम नई करते हम, लाल्ला, जिब पैसे पूरे लेवें हैं तो माल बी पूरा ई देवेंगे।"

"अरी पर घूंट एक तो और डाल दे।"

"तो नूं कह न ! ए...ले, एक छोड़ दो घूंट ले।"

और नीती ने थोड़ी-सी दारू और डाल दी है।

जगदीश गुसलखाने से निकल कर अपने कमरे की तरफ जा रहा है। गाहक आँखें मींच कर दारू पी रहा है। तुरन्त ही गिलास खाली करके नीती को लौटा देता है। दो-एक बार हह-हह करके मुंह की कसैली हवा निकाल दी है। फिर आस्तीन से ओंठ पोंछ कर कुरते की जेब में से बीड़ी का बंडर्ल निकालता है। बड़े इतमिनान से सुलगाता है। फिर वहीं खड़ा-खड़ा एक भरपूर कश खींचता है और चुटकी बजा कर राख झाड़ता हुआ चल देता है।

महेसू की निगाह जगदीश पर पड़ गयी है। करीब आ कर पूछने लगा है, "दारू थोड़ी तो नई रई, जगदीस बाबू ?"

"नहीं, महेशसिंह।"

"बिल्लकुल फिट हो न ?"

"हां।"

और बातें करते-करते दोनों पीछे वाले कमरे में आ बैठे हैं। गुच-मुच बिस्तर बिछी एक खाट; खाट के नीचे पड़ा एक छोटा-सा ट्रंक; कार्निस पर शेव का सामान, शीशा-कंघा और रंगों की मैली-पिचकी ट्यूबें, कुछ कूंचियाँ, टूटी तश्तरियों में पड़े-पड़े सूख गए कलर। कमरे में फर्श पर इधर-उधर बिखरे अखबार और पत्रिकाएं, स्टील की एक पुरानी

जंग-खायी फोल्डिंग कुरसी, और उस कुरसी की पुश्त के सहारे टिका चौखटे-जड़ा कैनवस का एक टुकड़ा, जिस पर बनी एक अधूरी अस्पष्ट पेंटिंग।

पेंटिंग देख कर महेसू पूछ बैठा है, "यो कोई नई तस्वीर बना रए दिक्खो जगदीस बाबू !"

"हाँ, महेशसिंह, बना तो रहा हूँ, बन गयी तो।" जगदीश ने मरे मन से उत्तर देकर सिगरेट का लम्बा कश खींच लिया है और सोचने लगा है : पर बनेगी कैसे ? यहाँ के हा-हुल्लड़ में एकाग्रचित्त हो पाना तो नामुमकिन है। हर वक्त शोर-गुल, और वातावरण एक दम भद्दा और भोंड़ा...अजब-अजब हरकतें...आदिम प्रवृत्तियों के हौलनाक नजारे। कोई कलर-स्कीम ध्यान में आती है तो किसी ताज़ी खिंची कच्ची शराब-सी गरम बहस की सड़ी-भाप उड़ आती है, और सारे रंग पिघल-पुंछ जाते हैं। पेंटिंग का कोई नया आइडिया उभरता है तो किसी भारी-भरकम गाली-गुफ्तार का कोई मोटा ग़लीज़ लोंदा उड़ आता है, और उस नाजुक-आइडिया की कमर तोड़ जाता है।

फिर ऐसे में होता अक्सर यही है कि वह अपनी कूंची-कैनवस उठा कर एक तरफ धर देता है, और चार मीनारी सिगरेट का नीट ठर्रई कश खींचता हुआ आंगन वाले दरवाजे तक आता है; नीत्ती या महेसू में से जो भी कोई दिखाई पड़े, उसे आवाज दे कर दारू का एक अद्धा मंगवा लेता है और फिर अपने कमरे में बैठ कर पीने लगता है। अद्धा हलक में उंड़ेल चुकने के बाद ही वह उस मन:स्थिति में आ पाता है कि बाहर वाले कमरों या पिछवाड़े की गली में से लपक-लपक आने वाले बदबूदार माहौल के सड़े-मांसल टुकड़ों के वार सह-झेल सके।

"इब लौं तो ढेरों तस्बीरें बना चुके होंगे, जगदीस बाबू ?" महेसू पूछ बैठा है।

जगदीश चौंक आया है, "अं !...हाँ...हाँ-हाँ...ब...बहुत-बहुत..."

"एक मेरी बी बना दो न !" महेसू की इस बात पर जगदीश मन ही मन मुस्करा दिया है। पर महेसू का मन रखने को कह देता है, "हाँ-हाँ, क्यों नहीं ? जरूर बना दूंगा।" और उसने महेसू की तरफ देखे बिना ही सिगरेट का एक और भरपूर कसैला-कश खींच लिया है।

इतने में बाहर आंगन में धन्-धन् करते हुए स्टार-लगे बूटों की आवाज़ के साथ मोटी-मोटी मां-बहन की गालियां सुनायी देने लगी हैं, "ओए महेसू...कित्थे एं तूं, साले ?"

महेसू आवाज पहचान कर उठ खड़ा है, मगर दरवाजे तक पहुँच भी नहीं पाता कि वह सरदार वहीं आ धमकता है।

"क्या हुआ सरदार जी ?" महेसू ने सरदार के कंधे पर हाथ रख कर पूछा है।

"ओए, रोज़ दे गाहकां नाल वी हरामजदगी ?"

"पर कोई बात बी ?"

"ओए, बात दे पुत्तर, पानी थोड़ा पाया कर।" इतना कहते ही सरदार अब एक दम ठण्डा हो आया है। महेसू के कधे पर हाथ रख कर कहने लगा है, "तेरी सौंह, महेसू, अज तां जरा वी नसा नई होया। लिया, इक अद्धा होर लिया !"

और महेसू सरदार को साथ लेकर बाहर वाले कमरे की ओर चल दिया है।

महेसू, हालांकि खुद बड़ा ही ज़ालिम क़िस्म का आदमी है। बात-बात पर गाली-गुफ्तार और धौल-मुक्का करने का आदी। पर अपने लगे-बंधे गाहकों की ज़्यादतियाँ बरदाश्त कर जाना वह अपने व्यापार का एक टैक्ट समझता है। रोशनआरा रोड के ट्रक-ड्राइवरों में से कई तो रोज़ के गाहक हैं। यूं, बहुत ही लिहाज से पेश आते हैं; पैसे भी

पूरे देते हैं। बस, नशे में जरा ज़बान पर कंट्रोल नहीं रहता। महेसू जानता है; सह गुज़रता है, और मुस्करा कर टाल जाता है, "खालिस गुड़ की है सरदार जी, नौसादर की नईं। पानी डालूं तो बेटे का रत डालूं। तम से बेइमान्ना कर सकूं हूँ भला?"

"अच्छा-अच्छा! गल्लां न मार! फटा-फट दे! ले, दो रुपइए!"

महेसू पैसे लेकर अद्धा नापता हुआ कहने लगा है, "कल रुलदू के हियां गए थे न?'

"ओए, छड्ड परां! दारू पीन थोड़े गए सां।" और सरदार खड़ा-खड़ा ज़रा लड़खड़ा पड़ा है। फिर मूंछों को एक मरोड़ दे कर एक आंख जरा-सी मूंद ली है, और एक भेद-भरी हंसी हंस दी है।

महेसू समझ जाता है, और खिलखिला पड़ता है, "तो फेर, बना काम?"

"ओए, बनदा क्यों नईं? माल नईं लगाया?"

"कित्ते दिये?"

"पूरे पंज!" सरदार ने बाएँ हाथ का मोटा-मैला पंजा पूरे का पूरा फैला दिया है, और साथ ही दायें हाथ में थमा गिलास मुँह को लगा कर एक ही सांस में खतम कर डाला है। गटक कर गिलास महेसू को थमा दिया है। फिर मुँह ज़रा कड़वा-सा बना कर थूकता हुआ कहने लगा है, "पर यार, महेसू, तूं कर कोई बंदोबस्त। रुलदू वाला माल जरा ढिल्ला सी। कोई जोरदार पटाखा होवे तां गल्ल बनदी ए।"

महेसू ने सरदार को टालते हुए कह दिया है, "अच्छा, सरदारजी, फिट कर दूँगा।"

सरदार बड़बड़ाता हुआ चल देता है, पर पक्की करता हुआ एक बार फिर कह गया है, "याद रक्खीं, किते भुल्ल जायें।"

"नईं-नईं, भूलूं गा नईं।"

सरदार चला गया है। महेसू दो-चार भद्दी गालियाँ दे कर बड़बड़ाने लगा है, "आ जाते हैं साले बड़े गुलफाम कहीं के। एय्यासी

करेंगे, हुँ ! जोरदार पटाखा चाहवें, अपने बहिन के...न हें तो।"

नीत्ती दारू खींचने वाली भट्टी के पास बैठी आंच में उपले भर रही है। कमरे भर में धूंआ और सड़ी हुई गरम-कसैली बसांध बसी हुई है। कनस्तर के कोनों पर लगी मिट्टी दबाता हुआ महेसू कहने लगा है, "कल जुम्मा है। तीन-एक बोत्तल तो और टूटनी चाहिएं।"

"कल कित्ती तोड़ी थीं भला?"

"पाँच बोत्तल।"

"पर चार तो बिक गई हैंगी। एक ही बची होंगी।"

"और जो प्रेम नगर से गेलन आया था, वो तो अलग धरा ए न?"

"हाँ, सो तो है ई।"

"बस, उसे मत छेड़ियो। पिछले मंगल कू माल थुड़ गया था तो कित्ते गाहक लौटे थे!"

महेसू की पत्नी नीत्ती दारू तोड़ने के काम में बड़ी मुस्तैद है। प्रेम नगर में उसके बाप के यहाँ भी यही धंधा होता था। पाँच बरस हो चुके हैं ब्याह को। चार बच्चे भी जन चुकी है। नाटा कद, गठा शरीर और ताम्बई रंग। मालूम नहीं पड़ता कि तीस को छू रही है। दिन रात काम में जुटी रहती है। दम लेने की फुरसत नहीं। पर कोई शिकवा शिकायत भी नहीं। अंधा मुग़ल में तीन कमरों वाला घर है। सास की बिरादरी भर में धाक है। ससुर किसी ज़माने में नामी-गरामी डाकू रह चुका है। अब प्रेम नगर में दारू का धंधा है। पुलिस और आबकारी वालों से खासी मेल-मुरव्वत है। छापे-वापे का कोई खतरा नहीं। हर महीने लगी-बंधी माहवारी पहुँचा दी जाती है, और नलकी की टूटी दारू का एक अद्धा रोज़ शाम को दरोगा का आदमी आ कर ले जाता है।

मकान के तीन कमरों में से आगे वाले दो अपने पास रख कर पीछे वाला कमरा तीस रुपये महीने पर उठा रखा है। किरायेदार कई बदल चुके हैं। पिछले चार-पांच महीनों से जगदीश रह रहा है।

फकत-दम है। पेंटिंग बनाता है। महेसू उसे बहुत मानता है। वह भी महेसू को हमेशा पूरा नाम लेकर पुकारता है। जगदीश दूसरे-तीसरे दिन दारू का एक श्रद्धा ले लेता है, श्रौर हर महीने किराये के साथ ही उस का भी हिसाब चुका देता है। मगर महेसू जब कभी खुद भिजवाता है या पीछे वाले कमरे में साथ बैठ कर खुद पिलाता है तो उस दारू को हिसाब में नहीं जोड़ता।

जगदीश श्रक्सर कह देता है, "भई, महेशसिंह, तुम्हारा यह हिसाब हमारी समझ में नहीं श्राता।"

महेसू भी मुस्करा कर टाल देता है, "बस, जगदीस बाबू, श्रपना तो ऐसा ई हिसाब ए।"

एक दिन जगदीश श्रपना महीने भर का हिसाब जुड़वा रहा था, तो महेसू ने कहा, "हमारी ता बोत्तल पीछे तीन श्राने लागत बैठे है, जगदीस बाबू! तुम नूं ही जो पी लिया करो।"

जगदीश कहने लगा, "नहीं, महेशसिंह! श्राखिर तुम लोग इतना जोखिम उठाते हो तो कुछ कमाने के लिए ही न?"

"श्ररे, जगदीस बाबू, क्या फरक पड़े है?"

मगर जगदीश ने ज़िद कर के पूरे पैसे चुका दिये थे।

श्रंधा मुगल एक श्रजीब खिचड़ी किस्म की बस्ती है: सब्जी मंडी के रेलवे स्टेशन श्रौर गंदे नाले के बीचों-बीच कई गलियाँ हैं। कुछ पक्के मकान, कुछ कच्चे। इकमंजिला, दुमंजिला रिफ्यूजी क्वार्टर भी हैं। दो-एक गलियाँ तो सिर्फ जरायम पेशा लोगों की ही हैं। महेसू इन सबका चौधरी है। दिन भर इन गलियों में खुले-श्राम जूश्रा खिलता है, श्रौर शाम ढलते ही दारू के दौर शुरू हो जाते हैं।

रात-दिन यहाँ ऐसी-ऐसी वाही-तबाही मची रहती कि जगदीश से काम करना मुश्किल हो चला था। कई दिनों से किसी श्रच्छी जगह की तलाश में था। एक दिन तो करोल बाग में एक कमरे का पेशगी किराया भी दे श्राया, श्रौर महेसू से कह दिया, "श्रच्छा भई, महेशसिंह,

कल को तुम्हारा कमरा खाली कर रहा हुँ ।"

"हूँ ।" आंगन में खड़े महेसू ने जगदीश की ओर देखे बिना ही हुंगारा भर दिया और चुपचाप बरामदे में से होकर बाहर वाले कमरे में चला नया ।

बरामदे में नीत्ती ने अपनी रसोई का ताम-झाम बिखेर रखा था । वह तो बैठी रोटियाँ पका रही थी, और सामने बैठे बच्चे खा रहे थे । बगल वाले कमरे में भट्टी चढ़ी हुई थी । पीछे वाले कमरे में जगदीश अपना फैला हुआ छुट-पुट सामान समेट-जोड़ रहा था ।

महेसू अपने कमरे में आकर यूं ही कुछ चीजें इधर-उधर उठाने धरने लगा । गली की ओर पड़ने वाला दरवाज़ा जरा उढ़का हुआ था, उसे पूरा खोल कर गुटके अड़का दिये । हवा का एक झोंका आया । साथ ही मार्च की सांझ की खुनकी-सी भी तैर आयी । कमरे में भर रही एलकोहल की गंध कुछ धक्का खा गयी ।

नीत्ती अन्दर से कुछ लेने आयी । महेसू एक ट्यूब में से दारू निकाल कर बोतल में भर रहा था । नीत्ती ने पूछा, "जगदीस बाबू कल जा रिया ए ?"

पत्नी की ओर देखे बिना ही महेसू कह उठा, "तो जान दे न फेर !"

नीत्ती को पति की आवाज जरा तेज़ और कुढ़ी-सी लग आयी । वह चुपचाप चली गयी । महेसू बदस्तूर अपने काम में लगा रहा ।

"महेसू ! महेसू ओ !!" एक गाहक पुकारता हुआ अन्दर आ रहा था ।

महेसू सुनता हुआ भी जवाब नहीं दे रहा था । उसके बिलकुल करीब आ कर गाहक कहने लगा, "एक बोत्तल दे भई ।" और कहने के साथ ही रुपये-रुपये के चार नोट बढ़ा दिये ।

महेसू ने रुपये लेकर बोतल भर दी । गाहक ने बोतल की गरदन नींवा कर थोड़ी सी दारू हथेली पर डाल ली और फिर चखता हुआ कहने लगा, "भई महेसू, आज तो कुछ हलकी लगे है ।"

महेसू ने बिना कुछ बोले झट से उसके नोट लौटा दिये, और बोतल उसके हाथ से छीन ली। गाहक हैरान-सा खड़ा देखता रह गया, "अरे यार, ऐसी भी क्या बात? मैंने तो इत्ता ही कहा था कि..."

महेसू बीच ही में टोक कर बरस पड़ा, "अच्छा-अच्छा, जा, बस। घटिया है मेरा तो सारा माल। जिसे पसन्द आवे, ले, नहीं तो अपनी बहिन की...में जावे।" और वह फिर से अपने काम में लग गया।

गाहक पुराना था। महेसू से काफी खुला हुआ भी। गाली-गलौच के रिश्ते तक अपनापन महसूस करता था। कह बैठा, 'अबे साले, तेरे नखरे तो सात चूहड़े उठान लगे आज। तू क्या समझे है, नहीं देगा दारू तो कहीं से मिलेगी नहीं?"

"हाँ-हाँ, तो जा न, ले आ; मेरे हियाँ तो योई ए। जिसे गरज पड़ेगी, सौ बार आवेगा।"

"अबे जा, गरज का बच्चा!" और वह बड़बड़ाता हुआ बाहर निकल गया।

शाम काफी ढल आयी थी। कमरे में अन्धेरा-सा महसूस होने लगा तो महेसू ने उठ कर लाइट जला दी; किवाड़ जरा से उढ़का दिये, और गाहक से छीन कर रखी हुई बोतल ले कर बैठ गया।

कांच के गिलास में दारू उंड़ेलता हुआ पत्नी को पुकारने लगा, "अरी ओ, नीत्ती!"

बरामदे में से आवाज आयी, "हां-आ!"

"जरि पियाज काट ला री!"

"अच्छा, इबी लाऊँ हूं।"

"और दिक्खे, लोट्टे में पानी बी लेत्ती आइयो।"

थोड़ी देर के बाद एक कटोरी में कटे प्याज और एक लोटा पान लेकर नीत्ती अन्दर आ गयी। महेसू ने पूछा, "रांधा क्या ए?"

"सिकार।"

"तो दो-एक बोट्टी वै बी ले ग्रा।"

फिर जब नीत्ती मुड़ने लगी तो महेसू बोला, "ग्रौर सुनियो, वो... नलकी की दारू धरी ए न ?"

"वई भगोन्ने वाली ?"

'हाँ।"

"है तो ?"

"उसे गिलास में डाल ला।"

"पीवेगा ?"

'न।"

"तो ?"

"तू ला तो !"

नीत्ती दूसरे कमरे में चली गयी ग्रौर महेसू बैठा दारू पीता रहा। कुछ ही देर में नीत्ती भगोने में से दारू उंड़ेल कर एक कांच के गिलास में भर लायी। महेसू इस बीच थोड़े सरूर में ग्रा चुका था। पत्नी को हाथ में दारू भरा गिलास लिये खड़ी देख कर कुछ पलों तक तो बड़ी ग्रजब-सी नज़रों निहारता रहा। फिर मुँह परे फेर कर दायां हाथ हिलाते हुए कह दिया, "जा, दे ग्रा उसे।"

"किसै ?"

"जगदीस बाबू कू।"

"ग्रौर जो दरोगा का ग्रादमी ग्रावैगा, तो ?"

"ग्रपनी मां की...में गया दरोगा ग्रौर पीच्छे तू, हरामजादी, बहस करो जावे है। जो कहा करूँ सुन लिया कर !" महेसू की ग्रावाज़ एक दम करख़्त हो ग्रायी थी।

नीत्ती चुपचाप गिलास लिये-लिये ग्रांगन वाले दरवाजे की राह पीछे वाले कमरे की ग्रोर चल दी।

इसी बीच एक ग्रौर गाहक गली की ग्रोर वाले उढ़के किवाड़ के पल्ले धकेलता हुग्रा भीतर ग्रा गया। दारू माँगी। महेसू ने झट मना कर दिया, "नईं ए बे दारू-ग्रारू।"

"क्यूँ भई ?"

"बस नईं ।" महेसू ने उसकी तरफ देखे बिना ही जवाब दे दिया, और स्टूल पर रखी बोतल में बची-खुची दारू भी अपने गिलास में उंड़ेल ली ।

"आखिर क्यूँ यार ?"

"फिर वई ? कहा न, नईं ए । जा, बस !" महेसू ने नशे की हालत में बाँया हाथ कुछ इस अन्दाज़ से हिला दिया, गोया मक्खी हाँक दी हो ।

गाहक ज़िद करने लगा, "पौआ ही दे दे यार, ऐसी भी क्या बेरुखाई !"

और महेसू ताव खा गया । पी कर खाली किया हुआ गिलास अभी तक दायें हाथ में ही था । मारने की मुद्रा में गिलास कंधे तक ले जाकर कह उठा, "जात्ता ए कि नईं ?"

कटोरी में बोटियाँ डाल कर नीत्ती महेसू को देने आयी थी । गाहक को जानती थी । पूछने लगी, "क्यूँ रे दीने, काहें उलझ रिया ए ?"

दीना चिढ़े स्वर में कहने लगा, "कुछ नईं भाभी, इस के दिमाग को जाने कबी-कबी क्या हो जावे है ?"

"कुछ बात बी ?" बोटियों वाली कटोरी पति के सामने रखती हुई दीने से पूछने लगी ।

दीना बोला, "बात क्या होत्ती ! बेबात ई ताव खा रिया ए । दारू माँगी थी । देत्ता ई नईं ।"

नीत्ती समझ गयी । चुपके से दीने को इशारा करके समझा दिया कि बाहर निकल जाये, और फिर दूसरे कमरे की तरफ से आये । महेसू की पीठ नीत्ती की ओर थी । वह बिना कुछ कहे-सुने इत्मिनान के साथ कचर-कचर बोटियां चबाता रहा ।

नीत्ती ने दूसरे कमरे में आ कर दीने को दारू दे दी, और पैसे लेकर गिनने लगी। दीना दारू पी कर चला गया। महेसू अपने कमरे में खाट पर टाँगें लटकाए बैठा बोटियाँ नोचता रहा।

थोड़ी देर के बाद लोटे को ही मुँह लगा कर पानी पीया। उसी में हाथ डाल कर उँगलियाँ घचोल लीं। फिर गीली उँगलियाँ अपने पाजामे से रगड़ कर पोंछ डालीं।

सिगरेट की तलब लग आयी। सामने स्टूल पर से पैकेट उठाया। खाली था। जेब टटोलने लगा। कुछ खरीज छनक पड़ी। नशे में बेकाबू-से हुए हाथ को किसी तरह जेब में डाल कर नीत्ती को पुकार उठा, "नीत्ती हो ! उरे आइयो !"

नीत्ती तवे पर से रोटी उतार कर आ गयी। महेसू ने लरजता हुआ हाथ बढ़ा कर पैसे दे दिये, "तारे का बकस ले आ।"

नीत्ती ने आटे-सने हाथों में ही पैसे थाम लिये और सिगरेट लाने चली गयी। गली में ही दुकान है। छोटा-मोटा सौदा-सुलफ यहीं मिल जाता है। दारू के गाहकों के लिए नमकीन दाल-सेल से लेकर सिगरेट बीड़ी और खारी सोडे की बोतलें तक भी।

एक आतंक में लिपटी-सी नीत्ती चलती-चलती सोचने लगी : 'इबजा फेर वई चक्कर होवेगा, दिख रिया ए।'

पिछली बार भी जब यह पीछे वाला कमरा खाली हुआ था, तब भी महेसू ने दारू का धंधा छोड़ दिया था। कई दिन तक नहीं किया। कहता था, कहीं नौकरी ढूँढ़ लूँगा। पर नहीं मिली थी नौकरी। एक जगह काम कुछ-कुछ बना भी, पर बात सिरे न चढ़ सकी थी। हुआ यह कि उन्हें मालूम हो गया था कि वह क्लाथ मिल में फिटर रह चुका है और जरायमपेशा कौम का होने की वजह से मुअत्तिल कर दिया गया था। सब से पहली बार जब यह कमरा खाली हुआ था, तब महेसू ने फिटर का काम सीख कर क्लाथ-मिल में नौकरी कर ली थी। मगर चार-पाँच महीने के बाद ही जाने किस तरह मिल वालों

को पता चल गया कि महेसू फत्ते डकैत का बेटा है, इनके यहाँ दारू का धंधा होता है। वह नौकरी छुट जाने के बाद तग आकर ही यह धंधा फिर शुरू किया था।

नीत्ती सिगरेट लेकर लौट रही थी, कि गली की परली ओर से आते हुए दो-तीन बंधे गाहकों पर निगाह पड़ गयी। थोड़ा लपक कर उन्हें बाहर ही रोक दिया, कहने लगी, "तुम हियांई थम जाओ। दारू ला दूं हूं।"

"क्यों, आज क्या बात है ? छापा है ?"

"नईं।"

"तो ?"

"महेसू का मिजाज गरम हो रिया ए। दारू को मना कर देवेगा।"

उन्हें बाहर खड़े कर के नीत्ती अन्दर आ गयी। महेसू अपने कमरे में नहीं था। आंगन में आयी तो पीछे वाले कमरे में से पति की आवाज सुनायी पड़ी। वहां जाकर सिगरेट का पैकेट दे दिया और उलटे पैरों लौट गयी।

नीत्ती के जाने के बाद महेसू एकदम मौन हो गया। जगदीश अपनी खाट पर टाँगें लटकाए बैठा था। महेसू कुरसी पर। बीच में थी एक लम्बी खामोशी। आखिर जगदीश ने ही चुप्पी तोड़ते हुए कहा, "महेशसिंह, तुम्हारा हिसाब कितना निकलता है ?"

यह बात सुन कर महेसू कुछ लमहों तक तो बड़ी अजीब-सी नजरों जगदीश को तकता रहा। फिर शब्दों को चबा-चबा कर कहने लगा, "मेरा हिसाब करना चाहो हो न, जगदीस बाबू !"

जगदीश न तो उस नजर का अर्थ ठीक से पकड़ पाया, न उन शब्दों का। अभी सोच ही रहा था कि क्या जवाब दूँ, कि महेसू ने अपने पैर से चप्पल निकाल कर जगदीश की तरफ बढ़ा दी। जगदीश बड़ी आलकसी स्थिति में आ पड़ा। तभी महेसू की आवाज फट-सी

पड़ा, "लो, जगदीस बाबू ! कर दो मेरा हिसाब !"

"यह क्या कह रहे हो, महेशसिंह ?" जगदीश के स्वर में आश्चर्य के साथ-साथ परेशानी भी थी।

महेसू के दायें हाथ में चप्पल थी और नशे की ज़्यादती की वजह से पूरा बदन कुरसी पर ही आगे-पीछे डोल रहा था। गरदन आगे को झुकी हुई थी। अब आहिस्ता-आहिस्ता नकार में हिलाने लगा। चप्पल वाला हाथ हवा में लहराता हुआ लटकते-टूटते शब्दों में धीरे-धीरे कहने लगा, "नई...नई...महेससिंग नई...ना-ई...ना-ई...कई नई महेससिंग...झूठ...सऽब झू-ऊ-ठ...महेससिंग नई ए...महेसू ए, जगदीस बा-बू, महेसू-ऊ...दारू बेचने वाला महेसू...फत्ते डकैत का बेट्टा महेसू...", फिर एकाएक गरदन को एक झटका देकर और भी आगे झुका दिया और ज़ोर-ज़ोर से कहने लगा, "मारो उसे...मारो ! मारो ! मारो ! जूते मारो !..." और फिर 'मारो' 'मारो' कहता-कहता अपने सिर पर ज़ोर-ज़ोर से चप्पल मारने लगा।

जगदीश ने उठ कर उसका हाथ रोक लिया और चप्पल छीन कर फेंक दी। फिर उस के दोनों हाथ पकड़ कर कहने लगा, 'यह क्या पागलपन है, महेससिंह ?"

महेसू ने अपने हाथ छुडा कर दोनों हाथों से मुँह ढक लिया, और बच्चों की तरह फफक-फफक कर रोने लगा। रोते-रोतेही कहता रहा, "जगदीश बाबू क्यूँ रहेंगे महेसू के हियां ! महेस सिंग होत्ता तो रहते !"

और फिर वह काफी देर तक रोता रहा। जगदीश उसे चुप कराता रहा। रुलाई की आवाज सुन कर नीत्ती भी आ गयी थी। देखते ही स्थिति समझ गयी थी। बोली कुछ नहीं। चुपचाप खड़ी देखती रही।

जगदीश को भी अपने सिर में नशे की एक घुमेरी-सी महसूस हुई। हट कर खाट पर जा बैठा। दोनों हाथों से अपना सिर थाम कर

बड़ी उकताई-आवाज़ में कहने लगा, "चुप करो, महेशसिंह चुप करो!" फिर हाथों में टिका अपना सिर इधर-उधर हिला-हिला कर बोला, "नहीं...कहीं नहीं जाऊँगा...कहीं नहीं जाऊँगा...यहीं रहूँगा। चाहे सारी की सारी पेंटिंग्ज़ अधूरी पड़ी रहें...मैं...मैं...मैं..." और आगे के शब्द नशे की हिलोर में गुम हो गए।

महेसू की नज़र देहलीज़ में खड़ी हुई नीत्ती पर जा पड़ी। आस्तीन उठा कर आँखें पोंछता हुआ लटकती आवाज़ में कहने लगा, "तू जा नीत्ती-ई!"

नीत्ती चली गयी। महेसू ने लरज़ते हाथों से सिगरेट निकाल कर सुलगाई।

...फिर एकदम चुप्पी।

कसैली सी ठर्रई-गंध...धुएं की उमड़ती हुई लहरियां...

कमरे भर में इधर-उधर पड़ी कई एक पेंटिंग्ज़...किसी में सिर्फ लकीरें ही...किसी के चेहरे साफ नहीं। कोई-कोई तो बना कर गीले ब्रश से क्रास कर दी गयी...एक बड़े आकार का कैनवस का टुकड़ा, जिसके एक कोने ऑयल-कलर में एक अस्पष्ट नग्नप्राय नारी-आकृति, पर बाकी का पूरा कैनवस खाली।

अगली सुबह सो कर उठा, तो महेसू सहज था। रोज की तरह अपने काम में लग गया। भभके में से दारू निकाल कर बोतलों में भरी। ठंडी हुई भट्ठी की राख झाड़ी। कनस्तर साफ किया। नलकी की दारू तो प्रेमनगर से आती थी। शाम के लिए बिलकुल भी नहीं बची थी। पहाड़ी में दबे मटके भी खोलने थे। बाप्पू से मिले भी कई दिन हो चले थे।

नीत्ती बरामदे में झाड़ू लगा रही थी। महेसू ने कमरे में से ही आवाज लगाई, "अरी, नीत्ती !"

"क्या कहो हो।"

"जरी चा बना दे री। पी के प्रेम नगर जाऊँगा।"

"मेरी अम्मा का जी ठीक नईं, परम्मू आया था कल्ल। जरा उधर बी होत्ते आइयो !"

"अच्छा।"

'कुलदीप्पे को बी कर दूं संग ?"

"क्यूँ ?"

"मिल आवेगा।"

"नईं। मैं तो घड़े देखन जा रिया ऊँ। उठ आए होंगे इबलौं तो।" इस तरह वह कुलदीप्पे को प्रेमनगर ल जाने की बात टाल गया। नीत्ती अँगीठी जलाने लग गयी। महेसू हाथ-मुँह धोने नल पर चला गया।

चाय का पानी अँगीठी पर चढ़ा कर नीत्ती कमरे बुहारने लगी। कुलदीप्पा बरामदे में बैठा चाक से फर्श पर आड़ी-तिरछी लकीरें खींचने लगा। उससे छोटा रूप्पा नन्हीं परसाद्दी को दोनों हाथों से पकड़ कर चलाने की कोशिश कर रहा था। परसाद्दी दो-एक कदम ठुनक कर गिर पड़ती। रूप्पा फिर उठा कर चलाने लगता। वे दोनों कुलदीप्पे की खींची हुई लकीरों पर आ गए तो उसने एक एक चपत दोनों के लगा दी। वे रिरियाने लगे।

कमरे में झाड़ू देती हुई नीत्ती ने ऊँची आवाज़ में डांट दिया, "अरे ओ, मुओ ! क्यूँ लड़ो हो सुबे-सुबे ?"

कुलदीप्पे ने शिकायत की, "अम्मा, मेरी लकीरें मिटा दीं रूप्पे के बच्चे ने !"

नीत्ती ने उसे ही फटकार दिया, "तो तू क्यूँ फरस गंदा कर रिया, मरे ?"

"तस्वीर बना रिया ऊँ।" कुलदीप्पे ने फिर से लकीरें खींचनी शुरू कर दीं।

इतने में महेसू हाथ-मुँह धोकर लौट रहा था। बेटे की बात सुन कर हंस पड़ा। मीठी झिड़की दे कर कहने लगा, "अबे ओ, आरटिश्ट के तुखुम, अपनी अम्मा की तस्बीर बना रिया ए?" फिर पीछे वाले कमरे में बैठे हुए जगदीश को आवाज दे कर बोला, "देक्खो जगदीस बाबू! यो कुलदीप्पा भी बन गया आरटिश्ट!"

जगदीश मुस्कराता हुआ बाहर निकल आया। कुलदीप्पा झेंप कर गली में भाग गया। महेसू और जगदीश खड़े-खड़े हंसने लगे। जगदीश ने पूछा, "अब यह कितने साल का हो गया?"

"सातवां चढ़ैगा।"

"पढ़ने जाता है न?"

"सुरू तो किया ए।"

"कौन से स्कूल में?"

"यईं कमेट्टी वाले में।"

"किसी अच्छे स्कूल में दाखिल करवाओ, महेश सिंह।"

इतने में नीत्ती ने चाय बन चुकने की सूचना दी। महेसू जगदीश के साथ ही पीछे वाले कमरे में जाता हुआ कहने लगा, "हियां ई ले आ री! जगदीस बाबू के वास्ते बी लाइयो!"

और फिर दोनों अन्दर जा कर बैठ गए। नीत्ती चाय दे गयी। चाय की चुस्कियों के बीच दोनों बतियाते रहे। रात के तनाव का कोई चिन्ह किसी के चेहरे पर नहीं था। बातें भी रोज की तरह की ही थीं।

महेसू चाय पी कर चला गया। जगदीश अपना काम ले बैठा। कुछ किताबों के कवर बनाने थे। कल तक डिज़ाइन पूरे करके दे देने थे। कुछ और छोटी-मोटी इलस्ट्रेशनों के आर्डर भी बुक कर के लाया आ था। रोटी कमाने के लिए यह सब चलताऊ काम वह ले लेता था। और बाकी वक्त में अपनी सृजनात्मक पेंटिंग बनाता।

बहुत दिनों से साध थी: एक एसी मास्टरपीस पेंटिंग बनाए, जिस में जिंदगी का कोई बहुत बड़ा फलसफ़ा उभर कर आ जाय। एक से एक नाज़ुक और महीन आइडिया पकड़कर रेखाओं में बाँधने की कोशिश करता, जो हर बार खुल-खुल जाता। ऑयल-कलर्ज़ की ट्यूबों में से जीवन का तत्व निचोड़ने का प्रयास करता, मगर कैनवस की छाती पर एक अस्पष्ट-सा तैल चित्र बिखर आता, और लगने लगता कि इस चिकने धरातल पर से फलसफा कहीं फिसल गया है।

गली में खुलने वाली खिड़की के आगे नीम की टहनियाँ हरकत करने लगीं। शाम ढल आयी। गली में उगे नीम पर चिड़ियों का समवेत स्वर सुनायी देने लगा। दिन भर इधर-उधर उड़-जूझ कर चिड़ियां अपनी-अपनी शाख पर आ बैठीं थीं। चीं-चीं का शोर बढ़ता जा रहा था।

सामने ही तख्त पोश पर जूए की चौकड़ी अभी तक जमी हुई थी। पास ही बच्चो की एक टोली कंचे खेल रही थी। पत्थर के कोयलों की धुंआती-अंगीठियाँ गली में जहाँ-तहाँ दरवाज़ों के आगे रख कर सुलगाई जाने लगी थीं। एक जहरीली-सी दमघोटू गैस फिज़ा में भर आयी थी। नीत्ती ने तो अपनी अँगीठी आंगन वाले दरवाज़े के बिल्कुल सामने ही रख दी थी। धूँआ उठ-उठ कर जगदीश के कमरे की तरफ लपक रहा था।

कुलदीप्पा उछलता हुआ आंगन में दाखिल हुआ। जगदीश ने उसे पुकार कर कह दिया, "अरे कुलदीप! अपनी माँ से कह, जरा यह अँगीठी परे सरका ले!"

कुछ-एक पुरबिए मज़दूर दारू की झोल में सामने से लड़खड़ाते हुए निकल गए। खिड़की में से दिखने वाला बाहर का टुकड़ा धीरे-धीरे धुंधला होने लगा।...घिरती सांझ...बढ़ता हुआ शोर...दारू का कच्ची-कसैली गंध के भभाके...गंदी गंदी गालियों के टुकड़े...हा हुल्लड़ ...सरदार ड्राइवरों के बूटों की आवाजें...महेसू से तकरार...दारू का

माँग...पानी मिलाने की शिकायतें...महेसू के सधे हुए व्यापारिक वाक्य...

नीत्ती अँगीठी उठा कर ले गयी थी। बच्चे बरामदे में बैठकर रोटी की इन्तजार करने लगे। बाहर वाले कमरे में महेसू गाहकों को निपटा रहा था।

जगदीश ने आंगन में जाकर पुकारा, "महेश सिंह!"

भीतर से आवाज़ आयी, "हाँ, जगदीस बाबू?"

"एक अद्धा भिजवाना, भई।"

और फिर थोड़ी देर के बाद नीत्ती अद्धा दे गयी। जगदीश ने खड़े-खड़े ही गटक डाला। तुरन्त ही सिगरेट सुलगा ली। दो-चार गहरे कश खींचे। फिर कमरे में ही इधर-उधर टहलने लगा। फिर लाइट जला ली और खाट पर आ बैठा। सामने कुरसी की पुश्त के सहारे टिका माउंट-जड़ा कैनवस...कैनवस पर बना अधूरा चित्र। जल्दी ही चित्र पर से निगाह हट कर खिड़की पर सरक गयी। खिड़की में से दिखने वाला बाहर का टुकड़ा बिल्कुल काला हो चुका था। निगाह फिर से चित्र पर टांगने की कोशिश की: कैनवस पर उभरा नग्न-नाजुक-खमदार नारी-शरीर...कलाकार के जीवन-दर्शन का प्रतीक...बाकी का कैनवस फिर खाली...

जगदीश सोचने लगा: कुछ है जो ऊना है...कहीं कुछ है जो भराव मांगता है।...

खिड़की के बाहर अन्धकार है...काला भयानक अंधेरा...नीम के पेड़ पर चिड़ियों की चीं-ची का शोर...अन्धा मुगल की अन्धी जिंदगी—लपकते-झपटते गीध जैसी...चित्रकार के खूबसूरत आइडिया को नोंच खाने को आतुर...

जगदीश को लगा: आइडिया पकड़ लिया।

और कैनवस के खाली हिस्से पर एक बहुत बड़ा काला गीध बना डाला। गीध के फैले हुए डरावने-डैने...इधर-उधर फैले बेतरतीब

बदज़ेब पैंच...प्याज़ी रंग की नंगी नारी-आकृति के चेहरे पर कुछ टच दे कर भय भर दिया।

और फिर शीर्षक सोचने लगा : 'वातावरण का गीध' ?...

...न, 'कला की मौत' ?...

"उँ-हुँ, फैले डैने, सहमी ज़िंदगी' ?...

—मगर यह प्याज़ी आकृति, यौवन का बिफराव, उचकते तक़ाज़े— ये तो मेरे आर्ट का प्रतीक बन सकता है, और यह...यह जो गीध है, यह ?...

...यह यहाँ की बदनुमा ज़िंदगी का नोंचू वातावरण।

—जगदीश एक झटके के साथ खाट पर से उठ बैठा, और चित्र को दोनों हाथों में उठा कर बड़बड़ा पड़ा : 'विश्व की महानतम पेंटिंग !'

फिर उसी तरह पेंटिंग को हाथों में लिये-लिये ही वह सामने की दीवार की तरफ बढ़ा। एक जगह टिका कर उसे टाँगने की सोचने लगा। इधर-उधर देखा : कहीं कोई कील नहीं दिखा, जिसे दीवार में ठोंक कर यह चित्र टांगा जा सकता।

श्रद्धा पी चुका था, पर नशा नाकाफी लगा। बेचैनी-सी होने लगी। चित्र को नीचे ही दीवार के सहारे टिका कर बाहर आंगन में जा निकला।

"महेश सिंह ! एक श्रद्धा और भिजवाना !"

और फिर अन्दर आकर अपनी खाट पर बैठ गया। वहीं से उस चित्र को निहारने लगा :

...चित्रकार की कुढ़न ने एक महान कलाकृति को जन्म दिया है...

...इसे प्रदर्शनी में भेजूँगा...

...पुरस्कार मिलेगा...

...निश्चित मिलेगा...

....पिकासो देखेगा वो खुदक़शी कर लेगा...

...विसी की 'मोना लिज़ा' की मुस्कान लुप्त हो जायेगी...

—"पिकासो की मां की...", जगदीश ने एक हाथ की मुट्ठीं बाँध कर दूसरे हाथ की हथेली पर दे मारी, और चीख-सा उठा, "महेश सिह !!!"

बाहर के कमरे से महेसू की आवाज़ आयी, "भिजवा रिया ऊं जगदीस बाबू !"

जगदीश खाट पर लेट गया। एक मुक्का और घुमा कर खाट की पाटी पर जमा दिया—"वैन गाँग की भैन का विसेंट मारूँ..." और फिर ऊँची आवाज में पुकार उठा, "लियोनार्डो महेश सिह ! दारू !!!"

नीत्ती दारू ले कर आ गयी।

जगदीश लेटा-लेटा ही सामने खड़ी नीत्ती को देखता रहा और बड़बड़ाता रहा...

...बड़बड़ाता रहा और देखता रहा...

: लियोनार्डो दा विंसी...

: विंसी दा मोना लिज़ा...

: मोना लिज़ा दा नीत्तो...

: नीत्तो दा...

: 'नीत्ती दा...'

"दारू ही तो लाई हूँ, जगदीस बाबू !" नीत्ती ने कहा।

दारू भरा गिलास लिये खड़ी नीत्ती का गदराया हुआ ताम्बई गात जगदीश की नशे-रसी आँखों से चिपकने लगा। मन हुआ कि उठ कर दरवाजा बन्द कर लूँ और दारू समेत नीत्ती को मुँह लगा कर पी जाऊँ।

"लैयो न, जगदीस बाबू !" नीत्ती ने जरा आगे बढ़ कर कहा।

"लाओ ! आओ ! मोना लिज़ा !"

जगदीश की बात तो नीत्ती की समझ में नहीं आयी, पर नशे में

समझ कर उसने दारू का गिलास चुपके से कुरसी पर रख दिया, और लौटने लगी।

जगदीश इसी बीच उठ बैठा था। जाती हुई नीत्ती की बाँह पकड़ कर कहने लगा, "नीत्ती, तुम्हारी तस्वीर बनायी है।"

नीत्ती बिना कोई संकोच या असुविधा महसूस किये सहज भाव से पूछने लगी, "कहाँ, जगदीस बाबू ?"

जगदीश का दायां हाथ अभी तक नीत्ती की कलाई के गिर्द लिपटा हुआ था। उस हाथ की पकड़ जरा मजबूत कर ली, और बायें हाथ से खाट की पाटी पर दबाव डाल कर वह जैसे-कैसे उठ खड़ा हुआ। और फिर डगमगाते कदमों चल कर नीत्ती को कोने पड़ी पेंटिंग के सामने ले गया। पेंटिंग की नंगी नारी-आकृति की तरफ इशारा कर के कहने लगा, "यह देखो नीत्ती !"

नीत्ती बोली, "यो तो कोई नंगी औरत ए, जगदीस बाबू, मैं थोड़े ई ऊँ ?"

जगदीश ने नीत्ती की कलाई छोड़ कर अपने हाथ के ढीले पंजे को हवा में लहराते हुए कहा, "तो...तुम...नंगी नहीं हो ?"

नीत्ती हँस पड़ी। कहने लगी, "तम बी, बस नूं ई ओ, जगदीस बाबू।" और इतना कहते ही वह मुड़ने लगी।

मगर जगदीश ने उसकी पीठ पर हाथ रख दिया, और लटकते हुए कुछ शब्द उसके मुँह में ही लड़खड़ाने लगे, "देखूं-ऊं...हो कि नहीं-ईं...' और कहता-कहता वह नीत्ती की पीठ पर हाथ फेरने लगा, "नंगी-ई-ई...नी-ई-त्ती-ई...हो तो सई-ई...कौऽन कहता है, नहीं हो नं-गी-ई ? अं ?" फिर एक हिचकी आ गयी, और वह गिरता-पड़ता अपनी खाट पर जा बैठा।

नीत्ती जगदीश की दशा देख कर खिलखिला पड़ी, "हो-हो-हो ! बस, जगदीस बाबू, बहक गए न तम ?...हा-हा-हा-हा...

हंसती हुई नीत्ती बाहर चली गयी...

...जगदीश को लगा कि नीत्ती उसे तमांचा मार गयी है।

लरज़ता हुआ हाथ बढ़ा कर कुरसी पर पड़ा दारू का गिलास उठा लिया, और एक ही डीक में पी गया। फिर खाली गिलास को उँगलियों में घुमाकर आँखों के बिलकुल करीब ले आया, और गिलास के कांच में से कोने पड़ी पेंटिंग देखने लगा।

देखते-देखते जाने क्या सूझा कि गिलास उठा कर पेंटिंग पर दे मारा, "नंगी !"

चौखटे-जड़े कैनवस से टकरा कर गिलास फर्श पर जा गिरा और टूट गया।

जगदीश चिल्ला पड़ा, "पिकासो-ओ !!!"...

...और चिल्लाते ही पीछे को लुढ़क गया। सिर दीवार के साथ जा टकराया।...

मगर उसी मुद्रा में खाट पर पड़ा-पड़ा अपनी मुट्ठियाँ भींच-भींच कर पिकासो को पुकारता गया।...

...'पिकासो', 'पिकासो' की आवाज पर महेसू आ गया। पूछने लगा, "क्या बात ए, जगदीस बाबू ?"

जगदीश की दृष्टि और कोने पड़ी पेंटिंग के बीच में महेसू आ खड़ा हुआ था। जगदीश ने लेटे-लेटे ही दायां हाथ नकार में झटक कर कहा, "तुम बीच में से हट जाओ, महेश सिंह ! मैं...मैं अपने आप निपट लूँगा, इस से-ए !" और कहता-कहता वह हाँपता हुआ उठने का प्रयास करने लगा। नशे की झोल के कारण उठने की कोशिश करता हुआ जगदीश इस तरह लग रहा था गोया किसी से कुश्ती लड़ रहा हो।

महेसू ने आगे बढ़ कर जगदीश को उठने में मदद दी। फिर कुरसी पर बैठता हुआ पूछने लगा, "किस से निपट लोगे, जगदीस बाबू ? किसी ने कुछ कह दिया ए ? तम हमें बताओ, कौन ए सवरा? साले की टांगें न चीर दें ?"

जगदीश ने दोनों हाथों से खाट की पाटी को मजबूती से थाम रखा था। पूरे जिस्म का बोझ अपनी बाहों पर दिए हुए था। साँस फूल आयी थी। चेहरा तमतमा रहा था। दोनों बाहों की बैसाखियों के बीच बैठा आगे-पीछे डोल-सा रहा था।

महेसू की बात सुन कर हाथों की पकड़ मजबूत कर ली, और दोनों जबड़े भींच कर कहने लगा, "इस की मां का एब्सट्रैक्ट आर्ट मारूँ...आ...आ...ढक ले अपनी बहन को...कर दी है नंगी। तू... तू साले पिकासो, बुड्ढे खूसट...तू क्या जाने आर्ट...देख! देख!" और फिर एक हाथ हटा कर बाँह को पूरी लम्बाई तक सामने फैला दिया। पेंटिंग की ओर तर्जनी करके कहने लगा, "देख! यह है आर्ट! और यह गीध तू है, पिकासो के बच्चे, तू है...तू...ए-ब-स-ट्रैक्ट...अन्धा-आ...

: अन्धा मुगल...

: प्रेम नगर...

: गीध...

: दारू...

: कच्ची दारू...

: भभके की दारू...

: नलकी की दारू...

: सड़ा हुआ गुड़...

: कीकर के बक्कल...

: मिट्टी का मटका...

: काला पहाड़...

: पुलीस!...

: पुलीस को रिश्वत देता है पिकासो? चोरी जो करता है!... छिप के...लुक के..एब्स-ट्रै-ए-क्ट!!!

: हटाओ, बहन की...

: इधर देख ! साफ धंधा करता हूँ। कोई छिपाव नहीं...कोई ढक्कन नहीं...एक दम नंगा...

: पुलीस ! क्या कर लेगी पुलीस ?...

: जवाहर लाल नेहरू !...

: रेल का इंजन !...

: छक...छक...छक...

: छ ऽ क, पिकासो ! ढक ले आ के हिम्मत हो तो, साले ! कर दी है नंगी...

: "नंगी...नंगी..."

और कहता-कहता जगदीश बिस्तर पर ही लुढ़क पड़ा।

महेसू चुपचाप बैठा रहा। समझ गया था : 'जगदीस बाबू पे दारू खेल गयी आज। खालिस दारू की पूरी बोत्तल पी चुका हैगा। पर अब लुढ़क पड़ा ए। आँखें बी मुंद गईं एं। नींद आ जावेगी तो जी सम्भल जावेगा।''

पर फिर भी वह काफी देर तक बैठा रहा। जगदीश जब देर तक हिला-डुला नहीं तो महेसू उठ कर चला गया।

रात के दस बजने वाले थे। दारू के लगभग सारे लगे-बंधे गाहक आ-आ कर दारू पी के जा चुके थे। फिर भी ग्यारह-बारह बजे तक बाहर वाला कमरा खुला रहता था। जाने कौन कब आकर दरवाजा थपथपाने लगे !

नीत्ती भी बरतन-भांडों से निपट चुकी थी। बच्चों को सुला दिया था। अब पति के पास आकर बैठ गयी थी। कहने लगी, "जगदीस बाबू तो आज खाना खान बी नईं गया। पूछ लो, जी हो तो हियांईं खा लेवे। पड़ी होंगी दो-तीन रोट्टी तो।"

महेसू ने कहा, "नईं री, रोटी क्या खावेगा। दारू ज्यादा ई चढ़ गई आज। पड़ के सो रिया ए अब तो। इत्ते नसे में भूख-भाख थोड़े ई रहवे !"

नीत्ती बोली, "आज तो जमाई उल्टी-सुल्टी बातें कर रिया था, कहन लगा, देख नीत्ती तेरी तस्वीर बनाई। जो मैं लगी देखन, तो वै मरी नंगी-सी बना रखी थी कोई।"

महेसू कहने लगा, "अरी हां, नसे में कुछ ई कहे जावे कोई। होस थोड़े ई होवे ऐसे बखत? अब बी जाने किसे-किसे गालियाँ दिये जा रिया था। मेरी तो समझ में कुछ आया-धरा नईं। अपने-आप ई बोल-बाल के चित हो गया। सबेर तक ठीक हो जावेगा। तूं आदमी भला हैगा बिचारा।" कहता-कहता महेसू जुम्हाई ले कर खाट पर पसर गया। बोला, "आज तो थक लिया नीत्ती। जरि कमर ई दाबा दे, री।"

महेसू करवट लिये पड़ा था, उलटा हो गया। नीत्ती उसकी कमर पर खड़ी हो गयी, और दीवार का सहारा लिये-लिये पूरे बदन पर चलने लगी।

इतने में दरवाज़े पर किसी गाहक ने आकर आवाज़ दी। नीत्ती नीचे उतर गयी। महेसू उलटा पड़ा-पड़ा बड़बड़ाने लगा, "जा, तेरा नास हो, सवरे, घड़ी भर आराम बी तो नईं करन देवें।"

"क्या हो रिया ए, महेसू?" गाहक ने नीत्ती से दारू लेकर पीते हुए पूछा।

महेसू ने तकिए पर टिकी गरदन इधर पलट ली और कहने लगा, "अबे, दीने, कहाँ मर गया था सवरे?"

"क्यूं?"

"आया ई नईं इत्ते दिन!"

"साँझ की डिवटी चल रही थी। ओवर-टैम बी लग रिया था।"

"अच्छा-ऽ-! तो जालिम, नावां छील रिया ए?"

"अरे क्या नावां-आंवा भईया! गुजर कर रए हैंगे।"

दीना ने अद्धा पीकर दो रुपए दे दिये, और बीड़ी के कश खींचता हुआ चला गया। नीत्ती फिर से आकर महेसू की कमर पर चढ़

गयी थी।

...ह-ा-उ-प

...ह-ा-उ-प्

महेसू ने लेटे-लेटे ही गरदन उठा कर आंगन में झांकते हुए पूछा, "यो क्या ए री ?"

नीत्ती बोली, "जगदीस बाबू दिक्खे !"

महेसू ने कहा, "हट तो जरि !"

नीत्ती हट गयी। महेसू उठ कर बाहर आँगन में चला गया। देखा : जगदीश अपनी देहलीज़ में सिर थामे, बैठा उल्टियां कर रहा है।

...हाउप्...हाउप्...हा-थू-ऊ ऊ...हू-हू-हू-ऊ...

महेसू ने झुक कर जगदीश को कंधों से थाम लिया, और नीत्ती को पुकार कर कहने लगा, "पानी लाइयो झट से।"

नीत्ती लोटे में पानी ले कर आ गयी। जगदीश के ओंठों को लोटा लगा कर कुल्ले कराए। महेसू उसके सिर पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगा। फिर दोनों बाहें पकड कर उठाया, और भीतर ले जाकर खाट पर बिठा दिया। फिर एक बाल्टी में पानी मंगवा कर उसमें जगदीश के पांव लटका दिये। साथ ही नींबू का अचार भी चटाया।

नीत्ती ने पानी डाल कर आंगन धोया। बाहर के कमरों के दरवाज़े बन्द कर दिये और आकर जगदीश का सिर दबाने लगी। थोड़ी देर के बाद महेसू ने जगदीश के पैर बालटी में से निकाल दिये। एक मैला कपड़ा उठा कर पांव पोंछे, और फिर सहारा दे कर लिटा दिया।

"अब कैसा जी ए, जगदीस बाबू ?"

"अ-आ-आ-ए...हं-अ ? कौन ?"

"हम, जगदीस बाबू। मैं ऊँ, नीत्ती ए।"

"ये मुझे खा जाएगा, महेश सिंह...नोंच-नोंच खा जा-ए-गा-आ...

तुम, तुम लोग कुछ नईं कर सकोगे...कुछ नईं...कुछ नईं..."

तकिए पर पड़ी गरदन को इधर-उधर फेंकता हुआ 'कुछ नईं', 'कुछ नईं' कहता-कहता जगदीश फिर सो गया।

महेसू ने उसके माथे पर हाथ लगा कर देखा : तप रहा था।

"इसे तो बड़ा तेज बुखार ए, री!"

फिर नीत्ती ने भी उँगलियों का उलटा भाग माथे से छुग्रा कर देखा, श्रौर कहने लगी, "हाँ, है तो। फेर, इस बखत क्या किया जावे?"

"डाक्दर को बुला लाऊँ?"

"पर इत्ती रात कहाँ जावेगा?"

"कईं बी, नीत्ती, डाक्दर को बुलाना ई पड़ेगा। देखती नईं, तवे-सा तप रिया ए सारा बदन?" श्रौर कहते ही महेसू बाहर निकल गया।

मार्च का श्रन्त था। रात ठण्डी तो नहीं रही थी, पर बुखार की वजह से नीत्ती ने जगदीश को लिहाफ श्रोढ़ा दिया। इधर-उधर बिखरा-फैला सामान भी ठीक कर दिया। टूटे हुए कांच के गिलास के टुकड़े बुहार कर फेंक श्रायी। पानी का लोटा भर के प्लेट से ढक कर खाट के नीचे धर दिया, श्रौर फिर पाटी पर ही टिक कर जगदीश का सिर दबाने लगी। जगदीश बीच-बीच में हाथ-पैर पटक कर बड़बड़ा पड़ता, श्रौर धीमे-धीमे कुछ बुदबुदा कर फिर गुड़ुम हो जाता।

इसी तरह घण्टे भर से भी ऊपर बीत गया। महेसू श्रभी तक डाक्टर को लेकर नहीं लौटा था। नीत्ती सोचने लगी : जाने कैसा बुखार ए। भगवान करे डाक्दर मिल जावे। भाड़ सा जल रिया ए सरीर। दारू से तो ज्यादा-ज्यादा कैं हो जात्तीं, पर यो बुखार तो..."

नीत्ती इसी चिंता में बैठी हुई थी कि बाहर गली में स्कूटर रुकने की श्रावाज़ श्रायी। उठ कर दरवाज़े तक लपकी।

महेसू डाक्टर का बैग उठाए श्रागे-श्रागे श्रा रहा था। पीछे-पीछे डाक्टर।

अगले दिन सुबह जब जगदीश की आँख खुलीं, तो उसने महेसू और नीत्ती को अपने सामने बैठे पाया। दोनों मियाँ-बीवी की आँखें रत-जगे की चुगली खा रही थीं, और उनके चेहरों पर चिंता के चिह्न साफ दिखलाई पड रहे थे। रात को डाक्टर आया था, इस बात की तो जगदीश को कुछ होश थी; इंजेक्शन की पीर की भी थोड़ी स्मृति थी, पर उसके बाद जो कुछ हुआ होगा, वह इन पति-पत्नी की निगाहों में पढ़ लिया था।

जगदीश की आँखों की राह अनुग्रह पिघल पड़ा, और वह बड़े ही कातर स्वर में कहने लगा, "महेश सिंह! तुम लोगों को कितनी तकलीफ दी मैंने!" और इन शब्दों के साथ ही उसकी आँखें भर आयीं, गला रुँध गया।

महेसू ने कहा, "अरे वाह, जगदीस बाबू! कैसी बात करो हो? तुम ठीक हो गए, इत्ता ई क्या थोड़ा ए?"

नीत्ती बोली, 'यो तकलीफ-अकलीफ की बात्तां हमारे साथ मत किया करो, जगदीस बाबू! आखिर मानस ई मानस के बखत पे खड़ा नईं होवेगा, तो कौन होवेगा, यो बताओ हमें?"

महेसू कहने लगा, "रात तो घबरा ई गया था मैं। दे कै पे कै, दे कै पे कै। और फेर इत्ता बुखार! राम रे, आग निकल रई थी। अब तो नईं न ताप?"

"नहीं। अब ठीक हूँ। तुम लोग सो लो।"

"अरे सो लेवेंगे! अब कोई बखत ए?"

इतने में बच्चों के रोने की आवाज़ सुनकर नीत्ती उठ के चली गयी।

महेसू ने जगदीश से पूछा, "चा बनवा दूँ?"

"अभी नहीं महेशसिह।"

"अच्छा तो ठैर के सई। कह दियो।"

"हूँ।"

ग्रौर फिर महेसू भी उठ कर चल दिया।

जगदीश ने पड़े-पड़े ही नीचे गिरी सिगरेट की डिब्बी ग्रौर माचिस उठा ली। एक सिगरेट सुलगाई। सामने कोने में पड़ी पेंटिंग पर निगाह जा पडी। उसे देखने लगा। सोचने लगा : 'क्यों ग्रपना वक्त बरबाद कर रहा हूँ ?...एक गलत वातावरण में ग्रा पड़ा हूँ ।...कुछ नहीं पेंट कर पाऊंगा यहां।...

...'ठीक है, महेसू भला ग्रादमी है, नीत्ती भी ग्रच्छी है। दोनों बिचारे बेहद स्नेह करते है। ग्रपना घर का-सा मानते हैं। जाऊंगा तो इन्हें दुख भी होगा। हुग्रा ही था। उस दिन कितना परेशान हुग्रा था महेसू ! यही सब देख कर तो मेरे कदम बँध जाते हैं। पर...

...'पर यहां रह कर मैं ग्रपने ग्रार्ट को भी तो बेड़िया पहना रहा हूं, सृजन के नाम पर क्या दिया है मैंने ग्रब तक ? मगर...

...'मगर उसके लिए उचित माहौल चाहिए, यहाँ का गीध तो मुझे वाकई नोंच खायेगा। प्रिमिटिव इंस्टिक्ट हैं इन लोगों की। जिंदगी का कोई ऊंचा सत्य कैसे पा सकता हू इन में ?"

ग्रौर फिर इसी कशमकश में दिन बीतने लगे। जगदीश इधर-उधर का हैक-वर्क कर लेता, पर जैसे ही कोई सीरियस चीज लेकर बैठता परेशान हो उठता। कुलबुला रहा था भीतर कुछ, मगर बाहर ग्रा नहीं पा रहा था। प्रसव का-सा कष्ट हो-हो ग्राता, पर सृजन कुछ न होता।

एक दिन तो सुबह से शाम तक इधर-उधर घूमता रहा। एक ग्रजीब खाली-खालीपन ग्रौर बेचैनी लिये कभी किसी तरफ निकल पड़ता, कभी कहीं मुड़ जाता। नजफगढ़ रोड के इन्डस्ट्रियल एरिया तक का चक्कर लगा ग्राया। काले पहाड़ के दामन में बसे प्रेमनगर में भी गया। पहले भी कई बार महेसू के साथ वहां गया था। पहाड़ के

दामन में वे गड्ढे भी देख आया था, जहां कच्ची शराब के मटके दबाए जाते हैं। पहाड़ पर चढ़ कर उस पार के दामन में बसे पटेल-नगर के आलीशान मकान भी देखे थे, जहाँ दिल्ली के समाज की क्रीम रहती है: बड़े लोग, महान हस्तियां, सभ्य-संभ्रांत। एक तरफ जरायम पेशा महेसू के परिवार के लोगों की अन-आथोराइज़्ड बस्ती; दूसरी ओर आधुनिकतम डिज़ाइन की बिल्डिंगों में कल्चर्ड जैण्ट्री। और बीच में काला पहाड़। अनेक एंगलों से पहाड़ की चोटी को देखा था उसने मगर आइडिया लायक कुछ न सूझ पड़ा था।

कुढ़न लिये-लिये शाम को अन्धा मुगल वाले अपने डेरे पर लौट आया। थका-टूटा हुआ था। आते ही खाट पर बिछ-सा गया।

गली की ओर खुलने वाली खिड़की में का टुकड़ा धीरे-धीरे मैला होने लगा था। झुकी हुई नीम की टहनियां हिलने लगी थीं। चिड़ियों की चीं-चीं का समवेत स्वर गूंज रहा था। आज जाने कहाँ से इतनी चिड़ियाँ नीम की डालों पर आ गयीं थीं। इस कदर शोर कि जगदीश अपने कानों में उँगलियाँ ठोंसने लगा।

प्रकाशक को बच्चों की किताब के लिए इलस्ट्रशन बनाकर देनी थीं। कल का वादा था। सोचा कि काम निपटा लूं। पर उठने को मन न हुआ।

अन्धेरा आहिस्ता-आहिस्ता झुक आया। उठ कर लाइट का बटन दबाने तक में आलस महसूस हो रहा था।

'अरे, जगदीस बाबू, अन्धेरे में ई पड़े ओ ?" महेसू दरवाजे में खड़ा पूछ रहा था। हाथ में एक तश्तरी थी।

"आओ, महेशसिंह !" लेटे-लेटे ही जगदीश ने कह दिया।

महेसू ने भीतर आकर खुद ही लाइट जलाई, उसके हाथ में प्लेट देख कर जगदीश ने पूछा, "क्या लाये, महेशसिंह ?"

महेसू बोला, "मिठाई।"

"कैसी मिठाई ?"

"कुलदीप्पे को अंगरेजी इस्कूल में भरती करा दिया ए। हुआं ई बोर्डिंग में रह्वेगा। सोच्चा वै तो कुलदीपसिंग बन ई जावे।"

"अच्छा किया महेशसिंह! ठीक है, लिख-पढ़ जायेगा। खर्चा तो काफी पड़ेगा कानवेंट में।"

"हां, बस नूं समझो, अब्ब हर महीने एक हरा नोट तो खसकेगा ई। पर कुछ फिकर नईं, जगदीस बाबू, उमर तो सँवर जावेगो, नईं तो वै बी, बस, हमारी तरह यों ईं रौल-बदील रहता।"

महेसू मिठाई देकर चला गया। जगदीश ने लेटे-लेटे ही एक सिगरेट सुलगा ली और ऊपर छत की तरफ देखने लगा।

बाहर चिड़ियों का शोर बदस्तूर जारी था। गली में सुलगने को रखीं पत्थर के कोयलों की अँगीठियों का धूंआ भी आ रहा था। दारू पीने वालों की टोलियाँ भी इधर-उधर आती-जाती दिखलाई पड़ने लगी थीं। वही बात-बेबात तकरार और वाही-तबाही का शोर-शराबा। गंदी-भद्दी गालियों के छिछड़े उड़े आ रहे थे। कच्ची शराब के कसैले भभाक...जूए की महफिलों के जोशीले कहकहे...सरदार ड्राइवरों के बूटों की चरमराती धनधनाहटें...पंजाबी गालियों के नमूने ...नलकी की टूटी दारू वसूलने आये दारोगा के आदमी का रौबीला स्वर...गली के आवारा कुत्तों की भौंकाहटें।

—पर एकदम जाने क्या हो गया है, कि—

—नीम के पेड़ पर चिड़ियों का शोर यकायक थम गया है;

—सारी आवाज़ें गोया किसी ग़ायबी-ताकत ने रोक ली हैं;

—हर धूंआ उड़ गया है;

—किसी किस्म की कोई बू बाकी नहीं रही।

और जगदीश कैनवस पर झुका बैठा है:

...फुर्ती से कूंची चल रही है...

...धीरे-धीरे चित्र उभर रहा है...

...कलर-स्कीम सोचनी भी नहीं पड़ रही है...

...आइडिया की नजाकत को वातावरण के गीध से महफ़ूज रखने का भी कोई खतरा नहीं रहा...

...उंगलियों की हरकत में बला की तेजी है...

...ज़हन के जैसे कुछ जमा पड़ा हुआ था, अब एकदम पिघल आया हो, और बांध तोड़ कर फूट-चू निकलना चाह उठा हो।

और फिर जाने कब तक, अपने आपे से, बाहर के माहौल से, सब कुछ से बेखबर हुआ बैठा जगदीश पेंटिग बनाता रहा।

उठा तभी, जब चित्र बिलकुल मुकम्मिल हो गया। तभी कूची रखा; एक नज़र भरके पेंटिंग का फिनिश्ड-व्यू लिया, और अनायास कह उठा, "ओलिम्पस !"

फिर इधर-उधर नज़र दौडाई। कीलें भी मिल गयीं। उठ कर सामने की दीवर पर कीलें ठोंक दीं, और पेंटिंग टांग दी।

और फिर उछाह में भरकर आंगन की ओर लपकता हुआ चिल्ला-सा पड़ा, 'महेशसिंह !"

महेसू ने आवाज सुनी तो नीत्ती से कह दिया, "जा री, एक अद्धा दे आ, जगदीस बाबू को !"

मगर जगदीश ने आगे बढ़ कर महेसू की बांह पकड़ ली, और कहने लगा, "नहीं, महेशसिंह, अब मुझे यह वाली दारू नहीं चाहिए।"

"क्यूं, जगदीस बाबू ? हम तो तुम्हें बिलकुल खालिस दारू देवें हैं। कभी पानी की सिकायत हुई ?"

"पानी की शिकायत की बात नहीं, महेशसिंह; तुमने तो आज मुझे वह खालिस दारू दे दी है, जिसका नशा जिंदगी भर नहीं उतर सकता, बीकस !"

"एं, यों क्या होवे, जगदीस बाबू ?"

जगदीश ने दोहरा दिया, 'बीकस !" कह कर पल भर तक रुका, फिर मुस्करा दिया। फिर महेसू की बाँह खींचता हुआ अपने कमरे की ओर ले चला, "आओ, महेशसिंह, देखो तो सही चल के ! तुम रोज

कहा करते थे, मेरी तस्वीर बना दो, जगदीस बाबू ।"

फिर वह महेसू को अपने कमरे में ले गया; पेंटिंग के सामने खड़ा कर दिया और कहने लगा, "अब लो, महेश सिंह, देख लो अपनी तस्वीर !"

महेसू दो-चार मिनट तक तो पेंटिंग की तरफ देखता रहा; मगर फिर जगदीश के मुँह के पास अपनी नाक ले जाकर सूंघने लगा।

जगदीश ने पूछा, "क्यों; महेश सिंह, क्या देखते हो ?"

"महेसू बोला, "देख रियाऊँ, आज कहीं बाहर से तो नईं लगाई आए अद्धा-वद्धा !"

"क्यों ?"

"अरे जगदीस बाबू, यो बी कोई तस्बीर ए ? मेरी सकल कहाँ ए इस में ?"

जगदीश हँस पड़ा। बोला, "मैं जानता था, तुम अपनी शक्ल नहीं पहचान पाओगे। तुमने वाकई अपने आपको नहीं पहचाना, महेश-सिंह !" फिर बाँयां हाथ महेसू के कंधे पर रख कर दाँये हाथ की तर्जनी से एब्स्ट्रैक्ट शैली की उस पेंटिंग को कुछ इस ढंग से समझाने की कोशिश करने लगा, जिससे आइडिया महेसू की पकड़ में आ जाए। शब्द सोच-सोच कर बोलने लगा, "यहां देखो, महेशसिंह, यह एक... दो...तीन। तुम सिर्फ इन तीन चीज़ों को ही देखो। बाकी तो सब यूनान के अलग-अलग देवी-देवताओं के प्रतीक हैं, उन्हें तुम पकड़ नहीं पाओगे। सो, लो अब मैं यह तीनों चीज़े एक-एक करके समझाता हूं। पहले तो इस पहाड़ को लो। इसे तुम यूं समझ लो कि यह प्रेमनगर वाला काला पहाड़ है, और यह रहा पहाड़ का दामन। देखा न ?"

"हाँ।"

"दामन से चोटी तक का नाप एक ऊंचाई का पैमाना होता है न ?"

महेसू ने कुछ समझ कर और कुछ बिना समझे सिर हिला कर

कह दिया, "हूँ।"

जगदीश ने कहा, "मगर तुमने मुझे ऊँचाई मापने का एक नया पैमाना दिया है, महेश सिंह !"

इस पर महेसू हैरान-सा होकर पेंटिंग के बजाय जगदीश के चेहरे पर देखने लगा।

जगदीश थोड़ा रुक कर फिर कहने लगा, "खैर, तो यह देखो, महेश सिंह, इधर यह दूसरी चीज़ देखो : वह दामन की हमवार सतह से भी ज्यादा गहराई में खुदा हुआ गड्ढा, और यह रहा इस गड्ढे में पड़ा दारू का मटका; इस मटके में ये रहे तुम्हारे पाँव, और यह रहा पहाड़ की चोटी पर तुम्हारा सिर। और यह देखो, अब यह तीसरी चीज़ : यह...काले पहाड़ की चोटी पर तुम्हारे सिर के बिलकुल करीब यह जो दीपक की लाल-लाल लौ है, पहचाना कौन है यह दीपक ?"

"उं हुं।"

"कुलदीप्पा; न, कुलदीप सिंह।" इसके बाद जगदीश की आवाज़ एक दम बहुत गम्भीर हो गयी, और वह एक-एक शब्द पर जोर दे देकर कहने लगा, "अब बताओ, महेश सिंह, दारू के मटके से ले कर इस लौ तक की ऊँचाई, दामन से चोटी तक के सामान्य माप के मुकाबले बड़ी हुई कि नहीं ?" और तब एक अजीब खुभती हुई निगाह से पेंटिंग की तरफ देखता-हुआ जगदीश अपने-आप में बड़बड़ाने सा लगा : 'काश, कि इंसान की महानता मापने के लिए उसके मटके और लौ के बीच के इस फर्क को मापा जाता !'

जगदीश के समझाने पर भी पेंटिंग महेसू की समझ में तो नहीं आयी, पर काले पहाड़ की चोटी पर जलते हुए दीपक की लौ में उसे नन्हें कुलदीप्पे की जगह भरे-पूरे जवान कुलदीपसिंह के चेहरे की झलक जरूर मिली थी, और इस से महेसू के चेहरे पर एक खिलापन आ-छा गया था। ●